UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182462

UNIVERSAL
LIBRARY

चतुर्युग

रचयिता

डा० रामकुमार वर्मा
सेठ गोविन्द दास
श्री उदय शङ्कर भट्ट
श्रीहरिकृष्ण 'प्रेमी'

सम्पादक

श्री प्रभात शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

प्राप्ति-स्थान

हिन्दी भवन
टैगोर टाउन, प्रयाग

दूसरा संस्करण
संवत २००८]

[मूल्य १।)

प्रकाशक:—
साहित्यकार संघ
प्रयाग।

मुद्रक
सेवा प्रेस, ९८, हीवेट रोड
प्रयाग।

दो शब्द

उपन्यास, कहानी, कविता और समालोचना साहित्य के समान हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का निर्माण भी बड़ी तेजी से हुआ है। इस समय हिन्दी में दर्जनों सफल एकाङ्की लेखक हैं। एकाङ्की के प्रचार, प्रसार और प्रणयन में रेडियो से भी बड़ी सहायता मिली है। नाटक की इस शैली का अङ्कुर संस्कृत साहित्य में भी था। महाकवि भास का 'कर्णभारम्' नाटक इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस नाटक का अभिनय करने में २५ मिनट से अधिक समय नहीं लगेगा।

हिन्दी में एकाङ्की नाटकों के अनेक संग्रह प्रकाशित हैं और उनमें कई उच्च कोटि के हैं। किन्तु अभी तक ऐसा एक भी एकाङ्की संग्रह नहीं देखने में आया कि जिसका अध्ययन करने से विद्यार्थियों के हृदय में भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहास के प्रति प्रेम जागरित हो। प्रस्तुत संग्रह इसी को लक्ष्य करके किया गया है। इस संग्रह में चार नाटक हैं। चारों नाटक हिन्दी के ख्यातानामा सिद्धहस्त कुशल नाटककारों की कमनीय कृति हैं। पहले नाटक में शकारि वीर विक्रमादित्य की पवित्र कथा है। दूसरे नाटक का कथानक हिन्दुत्त्व के लिए सदा युद्ध करने वाले मराठों के इतिहास से सम्बन्धित है। तीसरे नाटक की कहानी विश्व कवि कालिदास की गाथा पर अवलम्बित है। चौथे नाटक का अध्ययन

करने से छात्रों के सामने राजपूतकालीन वीरता के इतिहास का जीता-जागता चित्र खड़ा हो जाता है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी संसार में इस एकाङ्की संग्रह का स्वागत होगा। प्रस्तुत संग्रह में जिन नाटककारों ने अपने नाटक लेने की अनुमति दी है मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

—प्रभात मिश्र

———

सूची

श्री विक्रमादित्य—डाक्टर रामकुमार वर्मा,
एम० ए०, पी-एच० डी० ... ७

सच्चा धर्म—सेठ गोविन्ददास,
एम० एल० ए० (केन्द्रिय) ... ४६

कुमारसम्भव—श्री उदयशंकर भट्ट... ५९

मान-मन्दिर—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'... ९७

श्रीविक्रमादित्य

रामकुमार वर्मा

पात्र

श्रीविक्रमादित्य—शकारि अवन्तिनाथ

विभावरी (भूमक)—छद्मवेषी शक कुमार

पुष्पिका—उज्जयिनी-निवासिनी

उद्यानरक्षिका, प्रहरी, बधिक

स्थान—उज्जयिनी] [काल—सन् ५७ई० पू०

श्रीविक्रमादित्य

[श्रीविक्रमादित्य (आयु २६ वर्ष) की न्याय-सभा का बाहरी कक्ष । एक सिंहासन है जिसके दोनों ओर सिंह की दो विशाल प्रतिमाएँ हैं। सिंहासन के पीछे एक मेहराब है जिसके मध्य में सूर्य-मण्डल है। शिल्पकला से सजाए गए पत्थरों पर बेल-बूटेदार आकृतियाँ हैं जिनमें कमल और उसके चारों ओर मृणाल की जाली है। फर्श भी रंगीन पत्थरों का है और उसमें सरोवर की लहरों का आभास है। मेहराब से हटकर एक वातायन है जिससे कुछ दूर पर क्षिप्रा का प्रवाह दीख रहा है। कमरे में सुगन्धित द्रव्य का धूम है और चारों ओर रंगीन प्रकाश की शलाकाएँ हैं। द्वार के समीप काठ का एक त्रिभुज है जिसमें एक घण्टा लटक रहा है।

सिंहासन पर श्रीविक्रमादित्य आसीन हैं। देवतुल्य शरीर, घुटने तक लम्बी बाहें, प्रशस्त ललाट, चौड़ा और ऊँचा वक्षस्थल, कटि-प्रदेश पुष्ट जैसे 'विश्वकर्मा ने अपने चक्र-यंत्र पर चढ़ाकर उनकी आकृति और शोभा को और भी चमका दिया है।' उनकी कमर में 'अपराजित' खड्ग कसा हुआ है जो 'उनके पुरुषार्थ रूपी सागर की उत्छल तरंग' है। वे राजसी वस्त्र पहने हुए हैं। सिर पर रत्न-जटित मुकुट है।

मंच की सीढ़ियों पर दाहिनी ओर एक युवती विभावरी

(आयु २२ वर्ष) खड़ी है। मोतियों से परिपूर्ण सीमन्त और वेणी में बन्धूक-पुष्प। कन्धों पर हरा उत्तरीय और कमर में पीले रेशम का कटिबन्ध। हृदय पर मोतियों की माला और पुष्पहार। उसका शेष शृंगार फूलों का ही है।

कक्ष में इस समय केवल ये दोनों ही हैं। गंभीर घोष से श्रीविक्रमादित्य मौन भंग करते हैं]

विक्रमादित्य—आश्चर्य है, उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ!

विभावरी—सम्राट्, उस अपमान की यंत्रणा से आज दिन भर रुदन करने के कारण मेरे कण्ठ की विकृति हो गई है!

विक्रमादित्य—आर्य-नारियाँ रुदन नहीं करतीं। तुम्हारा नाम क्या है, देवी?

विभावरी—विभावरी, सम्राट्!

विक्रमादित्य—विभावरी!.....कहाँ की निवासिनी हो?

विभावरी—विदिशा में मेरा निवास है, सम्राट्!

विक्रमादित्य—उज्जयिनी में कब से निवास कर रही हो?

विभावरी—शरद्-पूर्णिमा के पर्व से। एक मास से कुछ ही अधिक समय हुआ।

विक्रमादित्य—यहाँ तुम आई किसलिए थीं?

विभावरी—पुण्यतीर्था उज्जयिनी में क्षिप्रा-स्नान के लिए।

विक्रमादित्य—कितने दिनों से क्षिप्रा-स्नान कर रही हो?

विभावरी—पिछले तीन वर्षों से, सम्राट्!

विक्रमादित्य—प्रत्येक वर्ष तुम यहाँ एक मास से अधिक ठहरती हो?

विभावरी—नहीं सम्राट्, जब से आपका शासन हुआ है तब से यहाँ अधिक ठहरने लगी हूँ।

विक्रमादित्य—क्यों ?

विभावरी—सम्राट्, आपके शासन में उज्जयिनी की पवित्रता नक्षत्रों की पवित्रता के समान है। यहाँ चारणों के भैरव राग में पुष्पों ने अपनी पंखुड़ियाँ खोलना सीखा है। जो नगरी अपने वैभवके स्तूपों में अपने हाथ फैलाकर आपके चरणों की वन्दना कर रही है, वह नगरी मेरे लिए इतना आकर्षण क्यों न रखे, सम्राट् ?

विक्रमादित्य—इसे मैं कैसे सत्य समझूँ जब विभावरी जैसी आर्य नारी अभियोगिनी के रूप में मेरे सामने उपस्थित है।

विभावरी—यह मेरा भाग्य-दोष है, सम्राट् ! सूर्य का आलोक कण-कण को प्रकाशित करता है किन्तु पहाड़ की कन्दरा में अन्धकार ही रहता है। यह सूर्य का दोष नहीं है प्रभो, यह कन्दरा का दोष है जो पत्थरों को तोड़कर उसमें छिपकर बैठ गई है।

विक्रमादित्य—यदि तुम ऐसा समझती हो देवी, तो अभियोगिनी बनकर मेरे सामने क्यों खड़ी हो ? यदि स्वयं तुम्हारा दोष है तो दण्ड सहन करने की शक्ति तुममें होनी चाहिए।

विभावरी—सम्राट्, यदि मैं दण्ड सहन कर लूँगी तो इस दण्ड का द्वार भविष्य में अन्य स्त्रियों के लिए भी खुल जायगा। आज मैं अपमानित हुई हूँ, यदि उसकी सूचना मैं आपके बाहु-बल को न दूँ तो कल दूसरी स्त्री भी अपमानित हो सकती है।

विक्रमादित्य—तुमसे पहले तो कोई स्त्री मेरे राज्य में अपमानित नहीं हुई।

विभावरी—यह आपके राज्य-शासन का गौरव है, सम्राट्!

विक्रमादित्य—[दृढता से] चुप रहो विभावरी, मैं ऐसे छद्म-वेशी शब्द नहीं सुनना चाहता। ये मेरी यंत्रणा को अधिक तीव्र करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ, तुम्हारा अभियोग क्या है?

विभावरी—सम्राट्, लज्जा मेरे शब्दों को रोक रही है।

विक्रमादित्य—मुझे आश्चर्य हो रहा है, तुम आर्य-नारी किस प्रकार हो? तुमने इस अपमान पर आज दिन भर रुदन किया, जो आर्य-नारी की मर्यादा के प्रतिकूल है। फिर उस अपमान के कहने में तुम्हें लज्जा हो रही है! आर्य-नारियाँ अपना अपमान ज्वालामय शब्दों में कहती हैं लज्जा के स्वरों में नहीं।

विभावरी—मैं बहुत दुखी हूँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य—तब तो तुम्हें और भी निर्भीक होना चाहिए। भारत की दुखिनी नारी क्रान्ति की ज्वाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वह उठती है तो सुगन्धमय धूम की भाँति, और आकाश तक उसकी उदारता फैल जाती है; वह गिरती है तो बिजली की भाँति, और उससे पाताल का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

विभावरी—सत्य है, सम्राट्!

विक्रमादित्य—फिर तुमने यह याचना की थी कि तुम्हारा अभियोग न्याय-सभा के बाहरी कक्ष में—एकान्त में—सुना जावे। यह याचना भी तुम्हारी स्वीकार हुई। मैंने अपनी सभा के सदस्यों और मंत्रियों को यहाँ से हटा दिया। इस समय हम लोग एकान्त में हैं। तुम निर्भीक होकर अपना अभियोग मुझे सुना सकती हो।

विभावरी—[हाथ जोड़कर] मैं सम्राट् की कृतज्ञ हूँ।

विक्रमादित्य—कृतज्ञ होने की बात नहीं है। सम्राट् प्रजा का पिता है। यदि आवश्यकता होगी तो मैं इसी स्थल पर तुम्हारे अभियुक्त को दण्ड भी दे सकूँगा।

विभावरी—यह आपकी कृपा है, प्रभो!

विक्रमादित्य—अपना अभियोग स्पष्ट करो। किसमें इतनी शक्ति है जो उज्जयिनी में नारी का अपमान करे?

विभावरी—सम्राट्, आज प्रातःकाल उषा-बेला में मैं इसी क्षिप्रा [वातायन की ओर संकेत] के किनारे वायु-विहार के लिए गई थी। वहाँ पुष्पराग उद्यान की सुगन्ध ने मुझे आकर्षित किया और मैंने उसमें प्रवेश किया। शीतल समीरण बह रहा था, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुए थे.....।

विक्रमादित्य—[बीच ही में] मैं इस समय काव्य नहीं सुनना चाहता, मैं अभियोग सुनना चाहता हूँ।

विभावरी—क्षमा चाहती हूं सम्राट्, मैं संक्षेप ही में कहूँगी। पुष्पराग उद्यान में पुष्पों की विविधता देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं सूर्य भगवान् की पूजा के निमित्त कुछ पुष्प चयन कर लूँ। जिस समय मैं पुष्प चयन कर रही थी उसी समय एक दूसरी स्त्री मेरे समीप आई। उसने प्रेम से मेरी ओर देखकर निवेदन किया "क्या मैं आपकी सहायता कर सकती हूँ?" उसका प्रेम-भाव देखकर मैंने उसकी सहायता स्वीकार करली। पुष्प-चयन के उपरान्त उसने मेरी वेणी में पुष्प गूँथने की इच्छा प्रकट की। सम्राट्, सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण मैंने यह भी स्वी-

कार किया। जिस समय मेरी वेणी में वह पुष्प गूँथ रही थी, उस समय मेरे कण्ठ में उसका स्पर्श अस्वाभाविक ज्ञात हुआ!

विक्रमादित्य—[चौंककर] अस्वाभाविक? [सिंहासन से उतर पड़ते हैं।]

विभावरी—सम्राट, उसके स्पर्श में मुझे पुरुष-स्पर्श का संकेत मिला।

विक्रमादित्य—[स्तंभित होकर] पुरुष-स्पर्श? तो क्या वह नारीवेश में पुरुष था?

विभावरी—मैं यही सोचती हूँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य—तुमने उसी समय अपने अपमान का प्रतिकार किया?

विभावरी—सम्राट्, मुझे भय था मैं कहीं अधिक अपमानित न हो जाऊँ!

विक्रमादित्य—तुम्हारे पास कोई शस्त्र था?

विभावरी—हाँ सम्राट्, मेरे पास शस्त्र था। वह अब भी है। देखिये, यह दन्तिका। [कटिबन्ध से दन्तिका निकाल कर दिखलाती है।]

विक्रमादित्य—तुमने इसका प्रयोग किया?

विभावरी—सम्राट्, मुझे आपके न्याय में अधिक विश्वास है!

विक्रमादित्य—विभावरी, तुम आर्य नारी नहीं हो। तुमने अपने कुल को कलंकित किया है। साथ ही मुझे भी, अपने सम्राट को। तुम इस प्रकार अपमानित हो जाओ और शक-स्त्रियों की भाँति रोने लगी? तुम्हें अपनी असमर्थता पर लज्जा नहीं

आई ? तुम्हारी माता को आत्म-हत्या करनी चाहिए। तुम्हारे पिता को देश से भाग जाना चाहिए। शक्तिहीना नारी ! भारत के भविष्य की संरक्षिका को अपमान का प्रतिकार करना भी न आया ? [अशान्ति से शीघ्र गति में टहलने लगते हैं।]

विभावरी—सम्राट्, मुझे क्षमा कीजिए। विदिशा में रहने वाली नारी को अभी उज्जयिनी की नारी से बहुत कुछ सीखना है। आपके व्यक्तित्व के प्रभाव से तो उज्जयिनी की नारी दुर्गा और सरस्वती दोनों ही का रूप धारण कर सकती है।

विक्रमादित्य—[घृणा से] अयोग्य नारी ! इस तिल की ओट में तुम पर्वत को नहीं छिपा सकती। यह कारण तुम्हारी असमर्थता की रक्षा नहीं करेगा।

विभावरी—[हाथ जोड़ कर] सम्राट्, मैं भी दण्ड की पात्री हूँ।

विक्रमादित्य—निस्सन्देह, नारीअपमान के लिए मैं अभियुक्त को निर्वासित तो करूँगा ही, साथ ही साथ तुम्हें भी साधना की अग्नि में तपकर सच्ची नारी बनना होगा।

विभावरी—मैं दण्ड सहन करने के लिए प्रस्तुत हूँ प्रभो ?

विक्रमादित्य—और तुम्हारा अभियुक्त कहाँ है ?

विभावरी—मैं उसे पुष्पराग उद्यान की द्वार-रक्षिका से बन्दी करा कर ले आई हूँ। वह इस समय द्वार-रक्षिका के साथ बाहर है। मैं स्वयं पदाघात कर उसे आपके पवित्र राज्य की सीमा से बाहर करूँगी !

विक्रमादित्य—[अशान्त होकर] उज्जयिनी में कभी ऐसा

अभियोग मेरे समने उपस्थित नहीं हुआ । विभावरी, तुमने आज मुझे यह सोचने के लिए बाध्य किया है कि इतने युद्ध करने के उपरान्त, इतने शत्रुओं को मालवा, सौराष्ट्र और गुजरात से निर्वासित करने के उपरान्त भी मैं उज्जयिनी की सामाजिक व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ रहा । आज भी उज्जयिनी में नारी अपमानित हो सकती है !

विभावरी—हाँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य [तीव्र स्वर में] विभावरी !

विभावरी—[विह्वल होकर] सम्राट्, क्षमा हो । जिस नगरी की वाणी ने ही क्षिप्रा का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ मेरी वाणी में यदि कुछ भूल हो तो क्षमा कीजिए, किन्तु अपनी आत्मा का चीत्कार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ, प्रभो ? मैं लांछित हुई हूँ, मेरे आत्म-सम्मान की अवहेलना ....

विक्रमादित्य—[रोककर] बस अब मैं अधिक नहीं सुन सकूँगा । तुम्हारे अभियोग ने मेरे पराक्रम की सहस्र भुजाओं को शक्तिहीन सिद्ध कर दिया है । मैं अब तक अपनी शक्ति का विश्वासी था । आज वह विश्वास तुम्हारे अभियोग में समाप्त हो रहा है । मेरे राज्य में नारी का अपमान हो, यह मेरे लिए अपमान की बात है !

विभावरी—आप सम्राट् श्रेष्ठ हैं, प्रभो !

विक्रमादित्य – चुप रहो, विभावरी, इन शब्दों से तुम मुझे पीड़ा पहुँचा रही हो । मैंने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था । क्या मेरे इस साहस की भावना पर तुम्हारा अभियोग

हँस नहीं रहा है ? मैं उस विरुद का परित्याग करूँगा। तुमने विक्रम की ऐसी पताका भी कहीं देखी है जो अन्याय और अव्यवस्था के दण्ड में सजी हो ? तुम ऐसे सूर्य की कल्पना कर सकती हो जिसकी किरणों से अन्धकार निकलता हो ? विक्रमादित्य अन्याय और अव्यवस्था का प्रतीक हो, यह असंभव है, यह असंभव है !

विभावरी—सम्राट् शान्त हों !

विक्रमादित्य—अयोग्य व्यक्ति कभी शान्त नहीं हो सकता। मैं अयोग्य हूं। कालिदास ने व्यर्थ ही मेरी प्रशंसा की है। मुझे पहिचानने में महाकवि ने भी भूल की।

विभावरी—नहीं प्रभो, मैंने आपको कष्ट पहुँचाने में भूल की है।

विक्रमादित्य—नहीं, मैं विक्रमादित्य नाम का परित्याग करूँगा। मेरे लिये केवल यही मार्ग है, केवल यही। किन्तु इसके पूर्व मैं नारी के सम्मान की पूर्ण व्यवस्था कर जाऊँगा। हाँ, तुम्हारा अपराधी बाहर है ? मैं उस नर-पिशाच को देखना चाहता हूँ जो अपने छद्मवेश में नारियों का अपमान करता फिरता है। जो पुरुष होकर अपने पुरुषत्व को नारी के वस्त्रों में छिपाये हुए है। जिसने विक्रमादित्य की सत्ता को विलासियों की शृंगार-शाला समझ रखा है। [द्वार के समीप पहुँचकर घण्टे पर चोट करते हैं, फिर लौटकर विभावरी से] तुम्हें मेरे न्याय में अधिक विश्वास है ! मैं आज एकाकी न्याय करूँगा। न्याय-सभा का सारा अधिकार मैं अपने बाहु-बल में केन्द्रित कर अप-

राधी को कठोर दण्ड दूँगा। [प्रहरी का प्रवेश; वह अपना भाला झुकाकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—प्रहरी, बाहर जो बन्दिनी द्वार-रक्षिका के अधिकार में है उसे यहाँ उपस्थित होने की आज्ञा सुनाओ।

प्रहरी—जो आज्ञा [प्रणाम कर प्रस्थान]

विक्रमादित्य—[विभावरी से] तुम मेरा न्याय देखना चहती हो ? किन्तु सुनो विभावरी, मैं ऐसी नारी से घृणा करता हूँ जो अपना सम्मान स्वयं सुरक्षित नहीं रख सकती। नदी पहाड़ से कहे कि तुम मेरे लिए किनारा बना दो, बिजली बादल से कहे कि मुझे तड़पना सिखला दो और नारी राजा से कहे कि मेरा न्याय करदो। नारी, भारतवर्ष को संसार में लज्जित होने से बचाओ, विदेशियों से पददलित होने पर भी देश की मर्यादा सुरक्षित रहने दो।

[द्वार-रक्षिका का अभियुक्त (आयु २४ वर्ष) के साथ प्रवेश। द्वार-रक्षिका श्वेत वस्त्र धारण किये हुए है। काले रेशम का कटिबन्ध। कबरी में पुष्प-शृङ्गार और हाथ में शूल। अभियुक्त पाटल रंग का उत्तरीय और नीले रंग का कटिबन्ध पहने है। गले में स्वर्ण-माला। केशों में कुन्द-पुष्प। माथे में स्वस्तिक-तिलक। हाथों में पुष्प-वलय और पैरों में नूपुर धारण किए हुए है। दोनों का अभिवादन। द्वार-रक्षिका अभियुक्त को सामने उपस्थित कर द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती है।]

विक्रमादित्य—[द्वार-रक्षिका से] तुम बाहर मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करो।

द्वार-रक्षिका—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

विक्रमादित्य—[अभियुक्त को गहरी दृष्टि से देखकर विभावरी से] यही तुम्हारा अभियुक्त है ?

विभावरी—[उद्वेग से] सम्राट्, यही अभियुक्त है। इसी ने मेरा अपमान किया है, यही वह दुष्ट है, यही वह छद्मवेशी है जिससे.....

विक्रमादित्य [हाथ बढ़ाकर] रुको विभावरी, तुम मेरे न्याय-कक्ष में हो। [अभियुक्त से] अभियुक्त, तुम विक्रमादित्य की परीक्षा लेना चाहते हो कि वह अपनी व्यवस्था में सतर्क है या नहीं ? छद्मवेशी अभियुक्त; तुम नारी वेश में पुरुषत्व का अपमान और नारीत्व की अवहेलना करनेवाले कौन हो ?

अभियुक्त—[हिचकते हुए] सम्राट् !

विक्रमादित्य—[तीव्रता से] तुम्हारा नाम क्या है ?

अभियुक्त—[रुकते हुए शब्दों में] सम्राट्, मैं.....मैं..... पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—मैं जानता हूँ कि तुम पुरुष हो, पुरुषत्व को लज्जित करनेवाले पुरुष, तुम्हारा नाम क्या है ? विक्रमादित्य के सामने तुम असत्य-भाषण नहीं कर सकोगे। मेरे अधिकार में अग्नि है, [तलवार पर हाथ रखकर] 'अपराजित' की तीक्ष्ण धारा है और वधिक का तीक्ष्ण कृपाण ! सत्य और धर्म के सोपान पर सुसज्जित पवित्र न्याय के सामने अपने नाम के अक्षर दुहराओ !

अभियुक्त—[विह्वल होकर] सम्राट्.....सम्राट्.....मुझे क्षमा करें.....मैं..... स्त्री.....हूँ !

विक्रमादित्य—तुम स्त्री हो ? यह तो सभी देखनेवाले जान सकते हैं, किन्तु मैं तुम्हारे पुरुषत्व की परिभाषा जानना चाहता हूँ।

अभियुक्त—सम्राट्, मैं स्त्री हूँ। मेरा नाम पुष्पिका है।

विभावरी—[तीव्रता से] सम्राट्, यह झूठ बोलता है, इसका यह नाम नहीं है।

विक्रमादित्य—[मुस्कराकर] नाम तो बहुत सुन्दर है, किन्तु तुम्हारा वास्तविक नाम क्या है ? तुम विक्रमादित्य के न्याय के सामने हो, असत्य भाषण नहीं करोगे !

अभियुक्त—सम्राट्, मैं क्या कहूँ मेरी समझ में नहीं आता .....हाँ, मैं पुरुष हूँ !

विक्रमादित्य—दण्ड के भय से उद्भ्रान्त मत बनो, अभियुक्त ! भगवान् महाकालेश्वर की आन पर तुम असत्य भाषण नहीं करोगे !

अभियुक्त—सम्राट् के सामने यह साहस किसी का नहीं हो सकता।

विक्रमादित्य—अभियोग कहता है कि तुम पुरुष हो। तुमने विभावरी का अपमान किया है। क्या यह सत्य है ?

अभियुक्त—हाँ सम्राट्, यह सत्य है। [रुककर] नहीं-नहीं, यह सत्य नहीं है।

विक्रमादित्य—[तीक्ष्णता से] स्थिर रहो अभियुक्त, तुम कहाँ के निवासी हो ?

अभियुक्त—सम्राट्, मैं उज्जयिनी में निवास करती हूँ।

विक्रमादित्य—[दृढता से] तो तुम स्त्री हो ? अभियुक्त, असत्य-भाषण करने पर कठोर दण्ड मिलेगा। अपनी वास्तविकता स्वीकार करो।

अभियुक्त—सम्राट्, मेरा नाम पुष्पिका है। मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ।

विक्रमादित्य—इसका प्रमाण ?

अभियुक्त—मैं सम्राट् के राज्यारोहण के समय उपस्थित थी। उस समय सम्राट् ने उज्जयिनी की प्रत्येक नारी को जो स्वर्ण-मुद्राएँ दी थीं, वे मेरे कण्ठहार में अब तक सुसज्जित हैं। देखिए, [अपना कण्ठहार दिखलाती है।[

विक्रमादित्य—किन्तु, वे मुद्राएँ तुम्हारे द्वारा चुराई भी तो जा सकती हैं ?

अभियुक्त—सम्राट्, उज्जयिनी की प्रत्येक नारी आपकी मुद्रा को गौरव का चिह्न समझती है। वह उसे चोरी नहीं होने दे सकती और सम्राट्, उज्जयिनी में चोरों का निवास नहीं है।

विक्रमादित्य—मैं यह बात सुनकर प्रसन्न हूँ, किन्तु तुम पर अभियोग है कि तुम पुरुष हो। क्या तुम पुरुष हो ?

अभियुक्त—[दृढता से] सम्राट्, मैं पुरुष नहीं हूँ। [विभावरी क्रोध से काँप जाती है।]

विक्रमादित्य—विभावरी, तुम काँप उठी, इतना क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं अभी निर्णय करता हूँ। [अभियुक्त से] अभियुक्त, क्या मैं प्रहरी को आज्ञा दूँ कि वह तुम्हारा वेश-विन्यास परिवर्तित करे ?

अभियुक्त—सम्राट्, उज्जयिनी की नारी को प्रहरी द्वारा अपमानित होने से रोकने की कृपा कीजिए।

विक्रमादित्य—क्या तुम पुरुष नहीं हो, अभियुक्त ?

अभियुक्त—नहीं सम्राट्, मैं वचन दे चुकी हूँ कि अपने सम्राट् के सामने असत्य-भाषण नहीं करूंगी।

विक्रमादित्य—[विभावरी से] विभावरी, क्या तुम्हारे कहने से अभियुक्त स्वीकार करेगा कि वह पुरुष है ?

विभावरी—[अभियुक्त की ओर दृढता से देखकर] अभियुक्त, तुम पुरुष हो, तुम्हारे स्पर्श में नारी का भाव नहीं था। तुमने मुझसे स्वीकार किया था कि तुम सम्राट् के सामने अपना पुरुषत्व स्वीकार करोगे। मेरी लज्जा के लिए स्वीकार करो, अपने वचन की पूर्ति के लिए स्वीकार करो। [अभियुक्त मौन है।] देखो, अभियुक्त तुम चुप क्यों हो ? तुम स्वीकार क्यों नहीं करते ?

विक्रमादित्य—[विभावरी से] तुम्हारा कथन भी रहस्यपूर्ण है, विभावरी।

विभावरी—कोई रहस्य नहीं, सम्राट्। [अभियुक्त से] अभियुक्त, मैं निश्चयपूर्वक कहती हूँ कि तुम पुरुष हो। मेरी ओर देखकर कहो कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त—[विभावरी की ओर देखकर] अच्छा, तो मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—[क्रुद्ध होकर 'अपराजित' स्थान से निकालकर] सावधान, तुम सत्य से खिलवाड़ कर रहे हो अभियुक्त ! राज-

मर्यादा का अपमान करने के कारण तुम्हें कठोर दण्ड दिया जायगा। ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर तुम अंजुलि के जल से अपनी रक्षा करना चाहते हो! [जोर से] प्रहरी!

अभियुक्त—[घुटने टेककर] सम्राट्, क्षमा करें। मैं अपराधिनी हूँ। मैं आपकी करुणा का दान चाहती हूँ। [प्रहरी का प्रवेश; वह प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—[अभियुक्त से] तो तुम पुरुष नहीं हो? अभी विभावरी की ओर देखकर तुमने कहा कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त—मैं स्त्री हूँ। अपने सम्राट् के सामने असत्य-भाषण नहीं कर सकती।

विक्रमादित्य—इसमें कुछ रहस्य है! अच्छा, तुम स्त्री ही सही! [अकस्मात् दूसरी ओर नेपथ्य में देखकर] ओह.....इतना भयानक सर्प.....[प्रहरी उस ओर दौड़ता है। अभियुक्त भाग कर सिंहासन के पीछे छिप जाता है।]

विक्रमादित्य—अभियुक्त वास्तव में स्त्री है। सर्प न होते हुए भी सर्प के नाम से वह विचलित हो गई। पुरुषों का यह लक्षण नहीं है। [विभावरी की ओर देखकर] तुम विचलित नहीं हुई, विभावरी? [खड्ग म्यान में रखते हुए]

विभावरी—मैं साहसी हूँ, सम्राट्!

अभियुक्त—[आगे बढ़कर] सम्राट्, क्षमा-दान करें। विभावरी पुरुष है।

विक्रमादित्य—ओह, यह रहस्य है! मैं भी अनुमान करता हूँ, विभावरी पुरुष है!

विभावरी—पुष्पिके, तुमने विश्वासघात किया ! [अभियुक्त की ओर दृष्टि।]

पुष्पिका—क्षमा हो राजकुमार, प्रयत्न करने पर भी मैं सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकी।

विक्रमादित्य—[साश्चर्य] राजकुमार !

पुष्पिका—सम्राट्, मैं क्षमा की भिक्षा मांगते हुए निवेदन करती हूँ कि यह विभावरी शक राजकुमार क्षत्रप भूमक है।

विक्रमादित्य—[आश्चर्य और क्रोध से] शक राजकुमार भूमक ! [तलवार पर हाथ रखते हुए] बोलो राजकुमार भूमक, तुम सौराष्ट्र के युद्ध में कहाँ रहे ? क्या इसी वेश में विदिशा की नारियों के बीच छिपे हुए थे ? तुम विभावरी हो ! क्यों कायर राजकुमार ? तुम्हें अपनी माता का स्तन्य लज्जित करते हुए संकोच नहीं हुआ ? स्त्री-वेश में तुम्हें अपने पुरुषत्व को कलंकित करते हुए क्षोभ नहीं हुआ ? और फिर तुम्हें अभियोग लाये थे ? स्वयं अपराधी होते हुए अभियोग लगाने का साहस ! राज-मर्यादा में तुम्हें असत्य का अभिनय आत्म-हत्या करने से अच्छा ज्ञात हुआ ? कायरता की प्रतिमूर्ति राजकुमार भूमक !

भूमक—मैं कायर नहीं हूं, सम्राट् !

विक्रमादित्य—तुम कायर नहीं हो ? तुम इतने तुच्छ हो कि तुम्हें आर्य नारी बनने की योग्यता भी नहीं आई ! आर्य नारी ने रोदन किया ! उसके कण्ठ की विकृति हुई। अपना पुरुष-स्वर छिपाने के लिए कण्ठ की विकृति ! उसने अपमान सहा, शस्त्र का प्रयोग नहीं किया, वह सम्मान के प्रतिशोध में सम्राट्

के सामने अभियोगिनी बनी और उसे अभियोग के स्पष्ट करने में लज्जा हुई ! ये सब क्या आर्य-नारियों के लक्षण हैं ? मुझे पहले ही सन्देह होने लगा था । शकों में आर्य-नारियों का धर्म पहचानने की क्षमता कहाँ ? तुम शक राजकुमार भूमक हो, तुम इन सब बातों को क्या समझो, तुम तो केवल स्त्री-वेश धारण करना जानते हो ।

भूमक—सम्राट्, आप मेरा अपमान न कीजिए । स्त्री वेश मैंने अपनी इच्छा से धारण किया । मैं कायर नहीं हूँ । यदि आपकी इच्छा युद्ध करने की हो तो मेरे लिए भी एक तलवार लाने की आज्ञा दीजिए । मै जानता हूँ कि मैं आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु शक राजकुमार मरने से भी नहीं डरता ।

विक्रमादित्य—[मुस्करा कर] मैं यह सुनकर प्रसन्न हूँ । [घंटे पर चोट करते हैं ।] किन्तु विभावरी और भूमक में क्या अन्तर है, वह मैं जानता हूँ । यह सब काण्ड रहस्य के रूप में मेरे सामने क्यों उपस्थित किया गया ? स्त्री और पुरुष, फिर पुरुष और स्त्री ! मेरे राज्य में इस इन्द्रजाल के लिए स्थान नहीं है !

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी—[प्रणाम कर] सम्राट्, कोई सर्प नहीं दीख पड़ा !

विक्रमादित्य—यह मै जानता हूं [विभावरी की ओर संकेत करते हुए] इस स्त्री को शस्त्रागार में ले जाकर इसे सैनिक का वस्त्र-विन्यास दो और साथ ही इसकी रुचि के अनुसार एक तलवार भी ।

प्रहरी—जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—स्त्री-वेश में मेरे समक्ष तुम अपने पुरुषत्व को अधिक देर तक लज्जित मत करो, क्षत्रप राजकुमार!

[भूमक का सैनिक के साथ प्रस्थान]

विक्रमादित्य—[घूम कर पुष्पिका से] पुष्पिके, जो पुरुष था वह स्त्री-रूप में आया और जिसमें पुरुष की कल्पना थी वह स्त्री ही निकली। यह सब मेरे सामने किस षड्यन्त्र का रूप है?

पुष्पिका—सम्राट, क्षमा करें। यह मेरा व्यक्तिगत जीवन-कथा है। परिस्थिति वश मुझे कार्य करना पड़ा। मैं लाचार थी।

विक्रमादित्य—तो तुम इस घटना-चक्र की प्रधान पात्री हो?

पुष्पिका—नहीं सम्राट्, मैं प्रधान पात्री नहीं हूँ।

विक्रमादित्य—तुम प्रधान-पात्री नहीं हो? तुमने यह क्यों कहा कि मैं पुरुष हूँ?

पुष्पिका—उपकार- ऋण से मुक्त होने के लिए, सम्राट्!

विक्रमादित्य—उपकार-ऋण? किसके उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए?

पुष्पिका—राजकुमार भूमक ने मेरे प्रति उपकार किया था।

विक्रमादित्य—कैसा उपकार?

पुष्पिका—सम्राट्, मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूं। दो वर्ष पूर्व मैं एक कार्य से गुर्जर चली गई थी। अकस्मात् शकों ने गुर्जर पर आक्रमण किया। दुर्भाग्य से मैं भी शकों के हाथों में पड़ गई। जब अन्य बन्दियों के साथ मैं वध-स्थान को ले जाई जा

रही थी, उस समय एकाएक इस शक राजकुमार ने आकर मेरी रक्षा की और मुझे स्वतन्त्र किया।

विक्रमादित्य—तुम पर ही यह कृपा क्यों की?

पुष्पिका—मैं नहीं जानती, सम्राट्!

विक्रमादित्य—सम्भवतः तुम्हारे सौंदर्य के आकर्षण ने उससे यह कार्य कराया हो।

पुष्पिका—जो भी हो, सम्राट्! किन्तु उसने मेरे आत्म-सम्मान पर आँच नहीं आने दी और साथ ही मुझे जीवन-दान किया! सम्राट् मुझे इतने बड़े उपकार का बदला देना था।

विक्रमादित्य—तो क्या उपकार का बदला तुम अन्याय-रूप से देती?

पुष्पिका—क्षमा कीजिए, सम्राट्! राजकुमार भूमक ने इसी बात की याचना की थी।

विक्रमादित्य—और इस क्षत्रप-राजकुमार ने स्त्री-वेश क्यों धारण किया?

पुष्पिका—सम्राट्, जब आपने मालवा, गुर्जर और सौराष्ट्र से शकों को निर्वासित किया तो मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाले क्षत्रप को गुर्जर छोड़ने में कष्ट हुआ। उसने गुर्जर ही में रहने का निश्चय किया, किन्तु पुरुष-वेश में रहना उसके जीवन के लिए संकट का कारण होता, इसलिए उसने स्त्री-वेश रखकर रहने में ही अपनी कुशल समझी।

विक्रमादित्य—फिर वह गुर्जर श्री में क्यों नहीं रहा?

पुष्पिका—सम्राट्, दुर्भाग्य से गुर्जर में लोगों की सन्देह-दृष्टि

उसपर पड़ ही गई। इस समय मुझे उज्जयिनी भी आना था। तो उसने मुझसे प्रार्थना की कि वह भी मेरे साथ उज्जयिनी चले। मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

विक्रमादित्य—क्या तुम उससे प्रेम करती हो?

पुष्पिका—सम्राट्, उपकार का बदला देना प्रेम करना नहीं कहा जा सकता।

विक्रमादित्य—क्या वह तुमसे प्रेम करता है?

पुष्पिका—मैं कह नहीं सकती, सम्राट्! किन्तु इस प्रकार के व्यवहार की मैंने सदैव अवहेलना की है। इस समय अधिक से अधिक वह मेरा भाई कहा जा सकता है।

विक्रमादित्य—यह सुनकर मैं प्रसन्न हूँ, किन्तु छद्मवेश रखने का अपराध करके भी उस राजकुमार को उज्जयिनी में आते हुए भय नहीं हुआ?

पुष्पिका—उसे मेरे आश्रय का सबसे बड़ा बल था, सम्राट्! वह समझता था कि मैं उसकी पूर्ण रक्षा कर सकूँगी।

विक्रमादित्य—तो तुम राज्य के समक्ष अपराधिनी होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं कर सकी?

पुष्पिका—आप रक्षा कर सकते हैं, सम्राट्!

विक्रमादित्य—तुम जानती हो पुष्पिके, शकों को मैं एक ही दण्ड दिया करता हूँ और वह है प्राणदण्ड। किन्तु खेद है कि युद्ध में इस क्षत्रप ने मेरा सामना नहीं किया। फिर भी इससे उसके दण्ड की व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। अभी एक बात तुम्हें और स्पष्ट करनी है। वह यह कि स्वयं

छद्मवेश में उपस्थित होकर और तुम पर अभियोग लाकर उसने अपने किस कार्य की पूर्ति करनी चाही ?

पुष्पिका—सम्राट्, कुछ ही दिनों में यहाँ इसे आपके आतंक और मर्यादापूर्ण शासन का ज्ञान हो गया। उसे भय था कि वह किसी दिन भी न्याय-सभा के सामने उपस्थित कर दिया जायगा। अतः उसे उज्जयिनी की प्रत्येक दिशा में सम्राट् विक्रमादित्य का कृपाण दीख पड़ने लगा। उसने निश्चय किया कि वह शीघ्र ही कपिशा चला जावेगा; किन्तु मार्ग में उसे प्राणों का भय था इसलिए उसने सैनिकों के संरक्षण में जाना ही उचित समझा। इसी बात के लिए उसे इस अभियोग की कल्पना करनी पड़ी।

विक्रमादित्य—[सिर हिलाकर] ठीक !

पुष्पिका—और सम्राट्, राज्य का यह नियम तो आपने निर्धारित कर दिया है कि नारी के अपमान का दण्ड देश निर्वासन है। मैं उस दण्ड के अनुसार निर्वासित होती; क्योंकि मैं स्वीकार करती कि मैं पुरुष हूँ। मेरे दण्डित होने पर वह विभावरी रूप में आपसे यह प्रार्थना भी करता कि वह पदाघात कर मुझे राज्य की सीमा से बाहर करता। इसलिए वह भी मेरे साथ ही सैनिकों के संरक्षण में सीमा तक पहुँच जाता और सीमा पर पहुँचकर वह आपके राज्य से निकल भागता।

विक्रमादित्य—यह रहस्य है !

पुष्पिका—यही कारण है कि उसने मेरी आँखों में आँखें डालकर मुझसे अनुरोध किया था कि मैं आपके सामने यह स्वीकार कर लूँ कि मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—किन्तु, इससे अच्छा क्या यह न होता कि वह स्वयं किसी स्त्री को अपमानित कर निर्वासन का दण्ड प्राप्त करता!

पुष्पिका—सत्य है सम्राट्, किन्तु आपसे प्राणदान पाकर भी उसे भय था कि वह मार्ग ही में किसी सैनिक द्वारा न मार दिया जाय!

विक्रमादित्य—तो इस अभियोग में तुम तो निर्वासित हो ही जातीं।

पुष्पिका—सम्राट्! एक उपकारी के लिए मैं यह भी करती, किन्तु बाद में मैं पुनः उज्जयिनी लौट आती, आपकी मुद्राओं से सुसज्जित अपना कण्ठहार दिखला कर।

विक्रमादित्य—तो तुमने अपराधी को छिपाकर और उसकी कूटनीति में भाग लेकर राजद्रोह किया है। तुम दण्ड की अधिकारिणी हो।

पुष्पिका—सम्राट्, मैं दण्डित होने को प्रस्तुत हूं, किन्तु अपने ऊपर अनन्त उपकार करनेवाले शक राजकुमार की केवल एक इच्छा की पूर्ति करना मैंने अपना धर्म समझा।

विक्रमादित्य—किन्तु, तुम जानती हो कि शकों और आर्यों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? शकों ने आर्यों पर कितने अत्याचार किये हैं? उन्होंने ब्राह्मणों का वध किया है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म को जड़मूल से उखाड़ने की चेष्टा की है। क्या शाहानुशाही क्षत्रपों के शासन से तुम अपरिचित हो?

पुष्पिका—नहीं सम्राट, मुझे शकों के अत्याचार की कथा ज्ञात है, किन्तु शक राजकुमार भूमक बहुत दयावान् है। वह

कोमल हृदय है, वह न्यायी है; अन्यथा वह मुझे मुक्त क्यों करता ? वह मेरे सम्मान की रक्षा क्यों करता ? वह जाति से शक है, किन्तु अपने विश्वास से वह पूर्ण आर्य है। जैन धर्म में उसका पूर्ण विश्वास है। वह हिंसा-विरोधी है, वह शक होकर भी शाकाहारी है।

विक्रमादित्य—तुम इस वक्तव्य से उसे निरपराध सिद्ध नहीं कर सकतीं। यदि आर्य-नारी की रक्षा करने के कारण उसे क्षमा भी कर दूँ तो कपटपूर्ण अभियोग के लिए उसे दण्डित तो करूँगा ही और साथ ही तुम्हें भी।

पुष्पिका—सम्राट्, मुझे दण्ड दीजिये, किंतु मुझ पर उपकार करनेवाले क्षत्रप-राजकुमार को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य—वह शक-क्षत्रप होने के कारण ही दण्ड का अधिकारी है। शासन का न्याय शक-क्षत्रप को शक्तिशाली नहीं रहने देगा। शकों ने जिस प्रकार आर्य-संस्कृति को कुचलने की चेष्टा की है उसके लिए उन्हें अनेक परम्पराओं तक प्रायश्चित्त की अग्नि में जलना होगा। फिर विक्रमादित्य के सामने आर्य-धर्म का विद्रोही संसार का सबसे बड़ा अपराधी है।

पुष्पिका—क्या राजकुमार किसी भाँति भी क्षमा नहीं किया जा सकेगा ?

विक्रमादित्य—मैं उसे क्षमा भी कर सकता हूं, किन्तु केवल एक बात पर और वह यह कि वह आर्य-धर्म स्वीकार करे और सारे देश में उसका प्रचार करे। क्या वह यह प्रायश्चित्त स्वीकार करेगा ?

पुष्पिका—सम्राट्, मुझे आशा नहीं है।

विक्रमादित्य—तब अवश्य दण्डित होगा। उसने राजधर्म की अवहेलना की है। उसने राज्य के प्रति षड्यन्त्र किया है, उसने एक झूठे अभियोग से अपनी मुक्ति की कुटिल युक्ति सोची है।

पुष्पिका—[शिथिल होकर] सम्राट् की जो इच्छा !

विक्रमादित्य—और सुनो पुष्पिके, तुम्हारे दण्ड की भी व्यवस्था है। यद्यपि सत्य बोलकर और राजधर्म की मर्यादा मानकर तुमने अपने अपराध की गुरुता कम कर ली है फिर भी तुम्हें शक-क्षत्रप के साथ गुप्त अभिसन्धि करने के कारण दो मास के कारावास का दण्ड मिलेगा।

पुष्पिका—सम्राट, मेरे कारावास का दण्ड बढ़ा दीजिये, किन्तु मेरे उपकारी क्षत्रप को क्षमा कर दीजिये।

विक्रमादित्य—यह असम्भव है। राजनीति स्त्रियों की विनयशीलता से तरल नहीं हुआ करती।

[प्रहरी के साथ भूमक सैनिक-वेश में आता है। उसके हाथ में तलवार है। वह एक सुन्दर शरीर का युवक दृष्टिगत होता है]

विक्रमादित्य—[प्रहरी से] प्रहरी, तुम यहीं द्वार पर बाहर रहो, तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रहरी—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

विक्रमादित्य [भूमक से] आओ क्षत्रप-राजकुमार भूमक ! मैं तुम्हारी गुप्त अभिसन्धि की सब बातें जान चुका हूँ। तुमने राजमर्यादा का अपमान भी किया है। कपटपूर्ण अभियोग लाकर तुमने न्याय को धोखा देने की चेष्टा भी की है। तुम कुछ

और कहना चाहते हो ?

भूमक—जब उज्जयिनी की नारी ने भी मेरे साथ विश्वास-घात किया तब मुझे और कुछ नहीं कहना।

विक्रमादित्य—तुम इसे विश्वासघात क्यों कहते हो क्षत्रप ? यदि उसने तुम्हारे पवित्र विश्वास की अवहेलना की होती तो वह निश्चय ही विश्वासघातिनी होती किन्तु उसने सत्यासत्य का निर्णय करते हुए पवित्र राजधर्म की मर्यादा रखी। क्या इस आचरण के लिये तुम उसकी सराहना नहीं करोगे ?

भूमक—सम्राट्, मैंने स्वयं अपने दल के सैनिकों से उसकी रक्षा की थी। मैं चाहता था कि वह भी आर्य सम्राट से मेरी रक्षा करती।

विक्रमादित्य—तो तुम उपकार का प्रतिदान चाहते हो ?

भूमक—नहीं, संकटकाल में केवल आत्म-रक्षा, और कुछ नहीं।

विक्रमादित्य—किन्तु यह आत्म-रक्षा कपटपूर्ण अभियोग से नहीं हो सकती। तुम द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत होकर आये हो ?

[तलवार हाथ में तोलते हैं।]

भूमक—मैं प्रस्तुत होकर आया हूँ, सम्राट्!

[तलवार हाथ में सँभालता है।]

विक्रमादित्य—किन्तु तुम्हें युद्ध-दान नहीं मिलेगा।

भूमक—मैं कारण जानना चाहता हूँ।

विक्रमादित्य—कारण यह है कि स्त्री-वेश धारण कर लेने वाले व्यक्ति मेरे द्वन्द्व के योग्य नहीं रह जाते। मेरे सामने विभावरी का रूप है, मैं उस पर कृपाण नहीं रख सकूँगा।

तुम्हारे लिये वधिक का कृपाण हो सकता है। विक्रमादित्य का 'अपराजित' नहीं। तुम तलवार पृथ्वी पर रख दो।

भूमक—किन्तु मैं द्वन्द्व चाहता हूँ।

विक्रमादित्य—[तीव्र स्वर] तुम न्याय-सभा के सामने हो, क्षत्रप!

[भूमक लज्जा और क्रोध से तलवार फेंक देता है।]

विक्रमादित्य—न्याय की आज्ञा पालन करने के कारण मैं प्रसन्न हुआ। भूमक, तुमने स्त्री-वेश धारण कर राज्य-दृष्टि के प्रति छल किया। झूठा अभियोग लाकर तुमने राज-मर्यादा का अपमान किया, इसलिये तुम कठोर दण्ड के पात्र हो। किन्तु भूमक, किसी समय तुमने एक आर्य नारी की प्राण-रक्षा की थी इस कारण तुम्हें आंशिक रूप से क्षमा भी दी जा सकती है, यदि तुम राज्य के नियम के अनुसार प्रायश्चित्त करो। तुम्हें प्रायश्चित्त करना स्वीकार है?

भूमक—मुझे किसी प्रकार का भी प्रायश्चित्त करना स्वीकार नहीं है।

विक्रमादित्य—फिर झूठे अभियोग के लिये दण्ड निश्चित है।

भूमक—जो आपके समक्ष झूठा अभियोग है, वह मेरे समक्ष मेरी राजनीति है।

विक्रमादित्य—किन्तु मैं तुम्हें अपनी राजनीति से दण्ड दे रहा हूँ। सम्राट् के साथ कपट करने का दण्ड तुम जानते हो, भूमक?

भूमक—सम्राट्, मैंने कभी जानने की इच्छा नहीं की।

विक्रमादित्य—तो अब जान लो। तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जावेंगे।

पुष्पिका—[शीघ्रता से घुटने टेककर] क्षमा सम्राट्, क्षमा।

विक्रमादित्य—उठो पुष्पिके, उठो. तुम पहले से ही दण्डित हो। अब तुम्हें कुछ कहने का अधिकार नहीं है। [भूमक से] और भूमक, तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था मैं इसी समय करूँगा।

[पुष्पिका उठती है।]

भूमक—सम्राट्, मैं सब समय प्रस्तुत हूं।

[विक्रमादित्य घण्टे पर चोट करते हैं।]

विक्रमादित्य—भूमक, मुझे केवल दुःख यही है कि तुम्हारे हाथों के न रहने से मैं कभी तुम्हारा युद्ध-कौशल न देख सकूँगा, किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं। हाँ, अपने शेष जीवन में तुम यह प्रयत्न करना कि अगले जन्म में तुम्हारे दोनों हाथ जीवनभर काम दे सकें।

[प्रहरी का प्रवेश]

विक्रमादित्य—[प्रहरी से] प्रहरी, वधिक को शीघ्र यहाँ आने की आज्ञा सुनाओ। आज फिर भगवान् ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर को रक्त का अभिषेक होगा।

प्रहरी—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—पुष्पिके! अपने उपकारी के प्रति जो कुछ भी श्रद्धावाक्य कहना है मेरे सामने ही कह लो। मुझे खेद है कि तुम्हारी क्षमा-प्रार्थना मुझे अस्वीकार करनी पड़ी। किन्तु शासन

का न्याय सर्वोपरि है। वह शकों के सम्बन्ध में क्रूर है और अपराधियों के सम्बन्ध में दृढ़। वह तुम्हें अन्याय के समर्थन की आज्ञा नहीं देगा और [भूमक से] राजकुमार भूमक, मुझे खेद है कि तुम यहाँ एकाकी आए। यदि तुम्हारे कुछ साथी और होते तो पारस्परिक सहानुभूति में तुम लोगों का दुःख कुछ कम होता।

भूमक—सम्राट्, मुझे अपने दुर्भाग्य की चिन्ता नहीं है।

विक्रमादित्य—ठीक है, तुम्हें सन्तोष होगा कि अब हाथों से रहित होने पर तुम कपट करने के पाप से बचे रहोगे।

भूमक—यदि राजनीति ही कपट हो तो मैं उसमें पाप नहीं समझता। फिर भी, मैं अपमानित होकर जीवित नहीं रहना चाहता। आप वधिक को आज्ञा दें कि वह हाथों के बदले मेरा सिर काट दे।

विक्रमादित्य—नहीं, यह आज्ञा नहीं दी जा सकती, विक्रमादित्य द्वन्द्व और रण-स्थल के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल पर प्राणदण्ड नहीं देता। मैं केवल तुम्हारे हाथ काटने की आज्ञा दे सकूँगा। फिर तुम्हारे खण्डित शरीर से मुझे अन्याय रोकने में भी सहायता मिल सकेगी। तुम दण्ड के प्रतीक बनकर इस प्रकार की न्याय-सभा करने के अवसर कम आने दोगे।

[वधिक का प्रवेश। अर्ध-नग्न, भयानक शरीर। कमर में जाँघिया। हाथों में कड़े। बाल खुले हुए। माथे पर त्रिपुण्ड, और हाथ में कृपाण। वह आकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—वधिक, तुम्हारे सामने यह शक अपराधी है। न्याय की आज्ञा है कि तुम इसके दोनों हाथ काट दो।

पुष्पिका–[आगे बढ़कर, हाथ जोड़कर] सम्राट्, यदि आप राजकुमार को क्षमा नहीं करते तो मेरे भी दोनों हाथों के काटे जाने की आज्ञा दीजिए। अपने ऊपर उपकार करनेवाले को दण्डित होता हुआ देखकर मेरी आत्मा मेरा तिरस्कार कर रही है। सम्राट्, मेरी प्रार्थना है।

विक्रमादित्य [तीक्ष्ण स्वर में] अपने स्थान पर ही रहो पुष्पिके, तुम्हारा न्याय हो चुका है। न्याय के आदेश में परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं है, जब तक कि अपराधी राज-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त न करे। मैं अपनी ओर से एक बार फिर अवसर दे सकता हूँ। क्षत्रप, तुम प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक—[दृढ़ता से] नहीं।

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, तुम अपना कार्य करो।

वधिक—[भूमक से] अपराधी, घुटने टेको।

[भूमक घुटने टेकता है।]

वधिक—दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाओ।

[भूमक दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाता है।]

विक्रमादित्य—शक राजकुमार, इन हाथों से एक बार भगवान् ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर को प्रणाम करो, फिर प्रणाम करनेवाले ये हाथ नहीं रहेंगे।

भूमक—सम्राट्, क्षमा करें, मैंने तीर्थङ्करों और शक-सम्राटों के अतिरिक्त किसी को प्रणाम नहीं किया।

विक्रमादित्य—अब उन्हें दूसरे जन्म में प्रणाम करना।

राजकुमार अब तुम प्रस्तुत हो ?

भूमक—मैं प्रस्तुत हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, अब तुम भी प्रस्तुत हो जाओ।

वधिक—जो आज्ञा [वह अपना कृपाण उठाता है।]

विक्रमादित्य—तुम और कुछ कहना चाहते हो क्षत्रप ?

भूमक—कुछ नहीं सम्राट, मैं केवल यही दुःख लेकर संसार में रहूँगा कि विक्रमादित्य सम्राट् माँगने पर भी मुझे मृत्यु नहीं दे सके। मुझे एक दुःख और रहेगा कि अब हाथों के न रहने से मैं अपने सम्मान की रक्षा न कर सकूँगा।

पुष्पिका—[गहरी साँस लेकर] और समय पड़ने पर इन हाथों से किसी नारी की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।

विक्रमादित्य—दो दुःख तुम्हारे और एक दुःख पुष्पिका का। तीन दुःख हुए। मैं इसके लिए आर्य-धर्म के तीन स्मारक बनवाऊँगा। और कुछ ? [कुछ रुककर] कुछ नहीं ? [वधिक से] वधिक, महाकालेश्वर का अभिषेक हो।

[वधिक तलवार उठाकर वार करता है। पुष्पिका शीघ्रता से आगे बढ़ आती है और उसके माथे में चोट लग जाती है। वह गिर पड़ती है। विक्रमादित्य शीघ्रता से बढ़कर उसके समीप पहुँचता है।]

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, ठहरो। [वधिक सहम कर पीछे हट जाता है। [गहरी साँस लेकर पुष्पिका से।] पुष्पिके—यह तुमने क्या किया ?

पुष्पिका—[टूटे स्वर से] अपने उपकारी की रक्षा, सम्राट् !

भूमक-[उठकर] सम्राट्, मैं प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—[उठकर] क्षत्रप, यदि तुम पहले ही प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो जाते तो पुष्पिका को चोट नहीं लगती।

भूमक—सम्राट्, मुझे आपके शासन में उज्जयिनी की नारी की महानता ज्ञात नहीं थी। मैं यह नहीं जानता था कि आपने अपने शासन का आदर्श इतना ऊँचा रखा है, जिसमें नारियाँ उपकार का बदला देने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग तक कर सकती हैं।

विक्रमादित्य—तो तुम प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक—हाँ सम्राट्, मैं प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, तुम जा सकते हो।

[वधिक का सिर झुकाकर प्रस्थान।]

विक्रमादित्य—[भूमक से] भूमक, मुझे प्रसन्नता है कि तुम प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो। प्रायश्चित्त की पहली व्यवस्था यह है कि तुम पुष्पिका को अपनी बहन समझ कर— यदि वह जीवित रही तो—उसकी सुश्रूषा का भार लोगे। स्वीकार है?

भूमक—[सिर झुकाकर] स्वीकार है सम्राट्! [पुष्पिका के सिर को अपने घुटने पर रखता है।]

विक्रमादित्य—प्रायश्चित्त की दूसरी व्यवस्था यह है कि तुम जैन धर्म को छोड़कर आर्य-धर्म पालन करोगे और उसका प्रचार सौराष्ट्र के समीपवर्ती प्रदेश में करोगे। स्वीकार है?

भूमक—[सिर झुकाकर] स्वीकार है सम्राट्!

विक्रमादित्य—गो ब्राह्मण की रक्षा करने का पुनीत कर्त्तव्य तम्हारे जीवन का प्रथम कर्त्तव्य होगा । स्वीकार है

भूमक—[सिर झुकाकर] मैं स्वीकार करता हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य—तो आज अपनी सारी प्रतिज्ञाओं को भगवान् महाकालेश्वर के मन्दिर में अभिमंत्रित करो ।

भूमक—मुझे स्वीकार है, सम्राट् ! पुष्पिका के महान् उत्सर्ग में आपके चरित्र-बल की श्रेष्ठता छिपी हुई है । सुगन्धित पुष्प का विकास वसन्त ही में होता है । आपके शासन में मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे आर्य-धर्म का सूर्य अपनी उज्ज्वल और प्रखर रश्मियों से भारतीय गगन-मंडल में चमक रहा है और उसके सामने छल का कोई बादल नहीं आ सकता । मैंने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया कि आपके राज्य में कोई षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकता । आज मुझे गौरव है कि मैं आपका सेवक और आर्य धर्म का सच्चा अनुयायी हूँ ।

विक्रमादित्य—[हाथ उठाकर] तब तुम मुक्त हो, क्षत्रप-राजकुमार !

पुष्पिका—सम्राट् [टूटे स्वर में] मेरी.....प्रार्थना..... पूरी...हुई.....मैं.....कृतज्ञ.....हूं ! और.....और..... मेरी.....एक.....प्रार्थना.....और.....है ? आज.....की... अमर.....घटना.....की.....स्मृति.....में.....आपका..... सम्वत्.....प्रचलित...हो !

भूमक—हाँ, सम्राट्, अभी तक के मान्य युधिष्ठिर-सम्वत् के स्थान पर विक्रम-सम्वत् का प्रचलन हो, यह मेरी भी प्रार्थना है ।

विक्रमादित्य—[हाथ उठाकर] तथास्तु ! पुष्पिके, तुम आदर्श नारी हो, तुम्हारी सुश्रूषा में राज्य की विशेष सहायता रहेगी। तुम्हारे आदर्श आचरण के कारण तुम्हारा अपराध भी क्षमा किया गया।

भूमक और पुष्पिका—[सम्मिलित स्वर में] सम्राट्, विक्रमादित्य की जय हो !

[सम्राट् विक्रमादित्य अभय-मुद्रा में हाथ उठाते हैं।]

[परदा गिरता है]

———

सच्चा धर्म

सेठ गोविन्ददास

पात्र

पुरुषोत्तम :: दिल्ली-निवासी एक महाराष्ट्र ब्राह्मण

अहिल्या :: :: :: पुरुषोत्तम की पत्नी

संभाजी :: :: :: शिवाजी का पुत्र

दिलावर खाँ :: औरंगजेब की खुफ़िया जमात का एक सर्दार

रहमान बेग :: :: दिलावर खाँ का मातहत

सच्चा धर्म

पहला दृश्य

स्थान—दिल्ली में पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय—मध्याह्न के निकट

[कमरा एक छोटे से मकान के एक छोटे से कमरे सदृश दिखायी देता है; दीवारें स्वच्छता से पुती हुई हैं। दीवारों में जो दरवाजे-खिड़कियाँ हैं उनसे बाहर की एक तंग गली के कुछ मकान दिखायी पड़ते हैं। एक दरवाजे से नीचे उतरने के लिए जीने की कुछ सीढ़ियाँ दिखाइ देती हैं। कमरे की छत में काँच की कुछ हँडियाँ लटक रही हैं। कमरे की जमीन पर आधे में बिछायत है और आधी खाली। कमरे में पुरुषोत्तम बेचैनी से इधर उधर टहल रहा है। पुरुषोत्तम की अवस्था लगभग साठ वर्ष की है। वह गेहुँएँ रङ्ग और साधारण शरीर का मनुष्य है। सिर के बाल मराठी ढंग के हैं अर्थात् पीछे चौड़ी शिखा है, उसके चारों ओर छोटे-छोटे बाल और उसके चारों तरफ़ के बाल मुड़े हुए। मुख पर बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। सारे बाल तीन चौथाई से अधिक सफेद हैं। वह लाल रङ्ग का रेशमी उपरना ओढ़े हुए है। उसी रङ्ग का रेशमी सोला पहने है। उसके सिर पर श्वेत चन्दन का त्रिपुण्ड लगा हुआ है और वक्षस्थल पर मोटा यज्ञोपवीत दिखायी देता है। अहिल्या का प्रवेश। अहिल्या करीब ५५ वर्ष

की अवस्था की गेहुँए रङ्ग और स्थूल शरीर की स्त्री है। बाल बहुत से सफेद हो गये हैं। वह मराठी ढंग की लाल चारखाने की साड़ी और वैसी ही चोली पहने हुए है। कुछ सोने के आभूषण भी पहने है।]

अहिल्या—अभी भी·····अभी भी वह हाल है, कोई निर्णय नहीं हो सका ?

पुरुषोत्तम—(खड़े होकर) अहिल्या, यह प्रश्न कोई साधारण प्रश्न है !

अहिल्या—(बैठ कर) कम से कम तुम सदृश सत्यवादी व्यक्ति के लिए तो ऐसे प्रश्नों में असाधारणता नहीं होनी चाहिए। जन्मभर तुम्हारा सत्य-व्रत अटल रहा। तुम सदा कहते रहे हो कि जीवन में यदि मनुष्य एक सत्य का आश्रय लिये रहे तो वह सत्य स्वयं ही सारे प्रश्नों का निराकरण कर देता है, पर जब मनुष्य सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा लेता है, तभी तरह-तरह के प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

पुरुषोत्तम—(बैठकर आश्चर्य से) सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ? मैं सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ले रहा हूँ ?

अहिल्या—और क्या कर रहे हो ? संभाजी को शिवाजी तुम्हारे पास रख गये हैं, यह क्या सच नहीं है ? जो लड़का तुम्हारे पास रहता है वह तुम्हारा भानजा है, यह कहना सच बोलना है ?

पुरुषोत्तम—संभाजी को संभाजी न कहकर अपना भानजा

कहना, शिवाजी मेरे पास संभाजी को नहीं रख गये हैं, यह कहना, साधारण सच बोलने से कहीं बड़ा सत्य है।

अहिल्या—तुम्हारी सत्य-प्रियता अधिकांश दिल्ली में प्रसिद्ध है, इसी के कारण यवन तक तुम्हारा आदर करते हैं, हमारे विवाह को चालीस वर्ष हो चुके, परन्तु आज तक मैंने तुम्हारे मुख से कोई मिथ्या वाक्य क्या, मिथ्या शब्द, और मिथ्या शब्द ही नहीं, मिथ्या अक्षर तक न सुना। वही तुम आज बड़ी से बड़ी मिथ्या बात कह कर उसे साधारण सत्य भाषण से बड़ा सत्य कह रहे हो!

पुरुषोत्तम—अहिल्या, हमारे शास्त्रों में सत्य और असत्य की व्याख्या बड़ी बारीकी से की गई है। अनेक बार सत्य के स्थान पर मिथ्या भाषण सत्य से भी बड़ी वस्तु होता है। जीवन में धर्म से बड़ी कोई चीज नहीं, धर्म की रक्षा यदि असत्य से होती है तो असत्य सत्य से बड़ा हो जाता है।

अहिल्या—धर्म की रक्षा! अब तो तुमने और बड़ी बात कह दी। संभाजी को अपना भानजा बनाने से तुम धर्म की रक्षा कर सकोगे? दिलावर खाँ कह गया है कि वह उसे तुम्हारा भानजा तब मानेगा, जब तुम उसके साथ बैठकर एक थाली में भोजन करोगे। ब्राह्मण होकर अब्राह्मण के साथ भोजन करने से धर्म-रक्षा हो सकेगी?

पुरुषोत्तम—(उठकर फिर टहलते हुए) अहिल्या, यही····· यही प्रश्न मुझे व्यथित किये हुए है। जीवन भर मैंने जिस प्रकार धर्म का पालन किया है, उसे तुमसे अधिक और कोई नहीं

जानता·····नहीं·····नहीं·····भगवान् तुमसे भी अधिक जानते हैं। (फिर बैठकर) मैंने त्रिकाल-सन्ध्या,तर्पण, हवन इत्यादि सारे ब्राह्मण-कर्म नियमपूर्वक किये हैं; शौच-अशौच का सदा पूर्ण विवेक रखा है; भक्ष्याभक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है; ब्राह्मण को छोड़कर किसी के हाथ का छुआ जल तक ग्रहण नहीं किया, वही·····वही मैं इस चौथेपन में अब्राह्मण के साथ बैठकर, एक ही थाली में, कैसे खाऊँगा, यह प्रश्न मुझे व्यथित ·····अत्यधिक व्यथित किये हुए है। (फिर टहलते हुए) भगवान इस चौथेपन में क्या मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं ? एक अब्राह्मण के साथ भोजन करा मुझे भ्रष्ट करना चाहते हैं ?

अहिल्या—यदि तुमने अब्राह्मण के साथ भोजन किया तो तुम्हीं·····तुम्हीं भ्रष्ट न होगे, सारा कुटुम्ब भ्रष्ट हो जायगा। दो-दो कन्याएँ विवाह योग्य हो गयी हैं, किसी ब्राह्मण-कुटुम्ब में उनका विवाह न हो सकेगा पुत्र का विवाह हो चुका है, तो क्या हुआ ? उसकी सन्तान तक भ्रष्ट हो जायगी, उसका न यज्ञोपवीत होगा और न ब्राह्मणों में विवाह-संस्कार।

पुरुषोत्तम—(अहिल्या के निकट बैठकर, उसकी ओर देखते हुए) तब···तब क्या करूँ ?

अहिल्या—मैंने तो कहा जन्म भर जिसके आश्रय में रहे हो, उस सत्य को न छोड़ो। औरङ्गजेब के सदृश बादशाह के राज्य में, उसकी राजधानी में, रहते हुए हिन्दू और ब्राह्मण होते हुए भी, तुम यह सफल-जीवन उसी सत्य के आश्रय के कारण बिता सके हो, इस चौथेपन में वह आसरा छोड़ने से बुरी और कोई बात

नहीं हो सकती, विशेषकर तब जब उस आसरे का सुफल तुम देख चुके हो। धर्म की टेढ़ी-मेढ़ी व्याख्याओं में पड़ कर अपना जीवन भर का सीधा मार्ग छोड़ अपने और अपने कुटुम्ब को नष्ट मत करो।

पुरुषोत्तम—तो मैं यह कह दूँ कि वह लड़का शिवाजी का पुत्र संभाजी है, मेरा भानजा नहीं। मिठाई की टोकरी में छिपकर दिल्ली से भागते समय शिवाजी उसे मेरे पास छोड़ गये हैं।

अहिल्या—कम से कम तुम्हें सत्य बात के कहने में पशोपेश होना ही न चाहिए।

पुरुषोत्तम—और इसका परिणाम क्या होगा ?

अहिल्या—परिणाम जो कुछ हो तुम सदा कहते नहीं रहे हो कि सत्य बोलने के सम्मुख परिणाम की ओर मनुष्य को दृष्टि ही नहीं डालना चाहिये ?

[पुरुषोत्तम सिर नीचा कर विचार-मग्न हो जाता है; कुछ देर निस्तब्धता।]

पुरुषोत्तम—(एकाएक सिर उठाकर) नहीं नहीं.....नहीं नहीं.....यह कभी नहीं हो सकता, यह कभी नहीं हो सकता। यह.....यह विश्वासघात होगा;.....ऐसा.....ऐसा पातक, जिससे बड़ा पातक सम्भव ही नहीं। यह.....यह शरणागत का बलिदान होगा; ऐसा.....ऐसा दुष्कर्म जिससे बड़ा दुष्कर्म हो नहीं सकता।

अहिल्या—पर दूसरी ओर तुम सत्य को तिलाञ्जलि दे रहे हो.....अब्राह्मण के साथ भोजन कर धर्म-भ्रष्ट होने का प्रश्न

तुम्हारे सम्मुख है और स्वयं के भ्रष्ट होने का ही नहीं, पर सारे कुटुम्ब के नष्ट हो जाने का···

पुरुषोत्तम—(उठकर टहलते हुए) ओह !···ओह !

लघु-यवनिका

—:०:—

दूसरा दृश्य

स्थान—दिल्ली की एक गली

समय - मध्याह्न के निकट

[तंग गली के कुछ मकान दिखायी पड़ते हैं । दिलावरखाँ और रहमानबेग खड़े हैं । दोनों अधेड़ अवस्था और गेहुँए रङ्ग के ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं । दिलावरखाँ के दाढ़ी भी है । दोनों उस समय की सैनिक वरदी लगाये हुए हैं ।]

दिलावरखाँ—(विचारते हुए) पंडित पुरुषोत्तमराव झूठ बोलेंगे ऐसा···ऐसा यकीन तो नहीं होता।

रहमानबेग—जनाब, तमाम देहली में कौन ऐसा होगा, जो उन्हें जानता हो और यह मानता हो कि वे कभी भी झूठ बोल सकते हैं।

दिलावरखाँ—(उसी प्रकार विचारते हुए) लेकिन, रहमानबेग, वह लड़का दक्खनी बिरेहमन दिखलाता नहीं।

रहमानबेग—सिर्फ सूरत से यह कह सकना कि कौन बिरेहमन और कौन नहीं, यह तो एक बड़ी मुश्किल बात है।

[कुछ देर निस्तब्धता। दिलावर खाँ गम्भीरता से सोचता रहता है और रहमानबेग उसकी तरफ देखता है।]

रहमानबेग—(कुछ देर बाद)फिर आपने तो पण्डित की बात पर ही यकीन करके मामले को नहीं छोड़ दिया, आपने तो उसे बहुत बड़ा सुबूत देने के लिए कहा है। पुरुषोत्तमराव की बात ही काफी है, फिर अगर वह उस लड़के के साथ बैठकर खाना खा लेता है, तब तो शक की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

दिलावरखाँ—(सिर उठाकर) हाँ, कोई बिरेहमन किसी नीची क़ौम के साथ बैठकर थोड़े ही खा सकता है।

रहमानबेग—और दक्खनी बिरेहमन मराठा के साथ, चाहे जान निकल जाय तो भी न खायगा।

दिलावरखाँ—पुरुषोत्तमराव के मानिंद बिरेहमन तो कभी नहीं।

रहमानबेग—कभी नहीं, कभी नहीं।

दिलावरखाँ—(ऊपर की तरफ देखकर) तो दोपहर तो हो रहा है। पूजा-पाठ के बाद उसने दोपहर को ही खाने के वक्त बुलाया था।

रहमानबेग—हाँ, वक्त हो रहा है, चलिए, चलिए।

[दोनों का प्रस्थान।]

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय – मध्याह्न

[दृश्य पहले दृश्य के सदृश ही है। पुरुषोत्तम और अहिल्या बैठे हुए हैं। अहिल्या का मुख प्रसन्नता से खिल सा गया है, परन्तु पुरुषोत्तम के मुख पर वैसे ही उद्विग्नता दृष्टि गोचर होती है। पुरुषोत्तम पृथ्वी की ओर देख रहा है]

अहिल्या—(ऊपर की ओर देखकर) धन्यवाद·····अगणित बार धन्यवाद है, भगवान् को कि अन्त में सत्य की उसने विजय करा दी। (पुरुषोत्तम की ओर देख) दिन भर का भूला भटका यदि रात को भी घर लौट आवे तो वह भूला नहीं कहलाता। उद्वेग के कारण तुमने एक बार मिथ्या अवश्य बोल दिया, पर देर·····बहुत देर नहीं हुई, अभी भी समय था। दिलावरखाँ के आने के पहले तक समय था। अब उससे सारी बातें सचमुच कह देने पर मिथ्या-भाषण के पाप से तुम मुक्त हो जावोगे। जन्मभर जिस सत्य का आश्रय रखा है उसी की शरण में रहने से कोई आपत्ति भी न आयेगी !

[पुरुषोत्तम कोई उत्तर नहीं देता। अहिल्या उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता]

अहिल्या—[कुछ देर बाद, पुरुषोत्तम की ओर देखते हुए] देखा·····देखा नहीं, एक·····केवल एक बार सत्य का आसरा छोड़ते ही कैसी···कैसी महान् आपत्ति आई। एक मिथ्या को

सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में कितनी मिथ्या बातें कहनी पड़ती हैं। तुम सदृश सत्यवादी से अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण माँगा गया, ऐसा वैसा प्रमाण नहीं, भयङ्कर प्रमाण, महा भयङ्कर प्रमाण! तुम्हारा मराठा के साथ, एक अब्राह्मण के साथ, एक थाल में भोजन! ओह। यह···यह कभी सम्भव था।

[पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता। पर दृष्टि उठा अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या चुपचाप उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अहिल्या—(कुछ देर बाद) जन्म भर का सारा पूजन-अर्चन समाप्त हो जाता। जीवन भर के सारे नियम-व्रत भंग हो जाते। न जाने कितने जन्मों के पुण्यों के कारण ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था और ऐसे शुद्ध ब्राह्मण कुल में। फिर इस जन्म में भी ब्राह्मण-धर्म का कैसा पालन किया था। कभी सन्ध्या न छोड़ी, कभी तर्पण न त्यागा, कभी हवन न छोड़ा, किसी का छुआ जल तक पान न किया था। सब·····सब चला जाता। स्वयं····· स्वयं ही भ्रष्ट न होते, परन्तु·····परन्तु सारा कुल भ्रष्ट हो जाता लड़कियाँ कुँआरी रह जातीं। लड़के की सन्तति अब्राह्मण हो जाती। (कुछ रुककर) होता····· होता कैसे ऐसा? जन्म भर का सत्कर्म पल भर में नष्ट कैसे हो जाता। भगवान् कैसे होने देते।

[पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता, पर चुपचाप उटकर टहलने लगता है। अहिल्या कुछ देर तक बैठे-बैठे उसकी तरफ देखती रहती है और फिर उठ कर उसी के साथ टहलने लगती है।]

अहिल्या—(टहलते टहलते) और फिर यह सब किसी अपने के लिए नहीं, दूसरे……दूसरे के लिए।

[पुरुषोत्तम चुपचाप खड़े होकर अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या भी खड़ी हो जाती है।]

अहिल्या—हाँ, क्या……क्या प्रयोजन है हमें शिवाजी से औरउसके इस पुत्र संभाजी से ? दूसरे के लिए हम क्यों अपना इह लोक और परलोक बिगाड़ें, स्वयं नष्ट हों और अपने कुल को नष्ट करें ? (कुछ रुक कर) सोचा,……जरा सोचो तो कहीं औरङ्गजेब को पता लग जाय कि तुमने शिवाजी के पुत्र को आश्रय दिया और……और उसे बचाने के लिए झूठ बोले……और…और उस झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए अपने धर्म-कर्म की भी परवाह न कर उसके साथ एक थाल में भोजन तक किया,……तो……तो औरङ्गजेब के सदृश बादशाह क्या करे तुम्हारा और हमारे सारे कुटुम्ब का ?

[पुरुषोत्तम फिर भी कुछ न कह टहलने लगता है। अहिल्या भी उसके साथ टहलती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अहिल्या—(कुछ देर बाद) ठीक……ठीक समय भगवान ने तुम्हें सुबुद्धि दी। सारा हाल सच सच कह देने से अच्छा निर्णय हो ही नहीं सकता था। परलोक बचा, क्योंकि मराठा के साथ खाने से जो धर्म जाता वह धर्म बच गया। इहलोक बचा, क्योंकि राज्य-भय नहीं रह जायगा। इतना……इतना ही नहीं, संभाजी को पाते ही,……तुम्हारे जरिये पाते ही औरङ्गजेब कितना……कितना खुश होगा तुम पर !…कदाचित्…कदाचित

तुम मनसबदार हो जाओ; तुम न भी हुए·····अर्थात् तुमने यदि मनसबदारी अस्वीकृत भी कर दी, तो.....तो मनसबदार हो सकता है हमारा लड़का।...अरे! उन लड़कियों का सम्बन्ध तक अच्छे से अच्छे स्थान पर हो सकेगा।...कितना ···कितना परिश्रम तुम कर चुके हो इन लड़कियों के लिये योग्य वर ढूँढ़ने का। बादशाह.....हाँ, बादशाह की कृपा के पश्चात् कौन... ...कौन वस्तु दुर्लभ रह जायगी? (कुछ रुककर) और.....और यह सब होगा किस कारण.....उसी.....उसी सत्य की शरण के कारण, जिसका जीवन.....हाँ, जीवन भर तुमने आश्रय रखा है।

[नेपथ्य में 'पंडितजी, पंडित जी!' शब्द होता है]

अहिल्या—(जल्दी से) लो, लो, कदाचित् दिलावरखाँ आ गया। अब.....अब सब बतचीत स्पष्ट रूप में कर लो उससे... (शीघ्रता से प्रस्थान।)

पुरुषोत्तम—(जिसके मुख का रंग ही दिलावरखाँ की आवाज सुन और ही हो गया है, गला साफ करते हुए खिड़की के पास जा, मुख बाहर निकाल, नीचे देखते हुए) अहाहा! दिलावरखाँ साहब! आइए, आ जाइए।

[दिलावरखाँ और रहमान बेग का प्रवेश।]

पुरुषोत्तम—आइए, आइए, मैं पूजा से उठ आपही लोगों का रास्ता देख रहा था। बैठिए, बैठिए।

दिलावरखाँ—(बिछायत पर बैठते हुए) आप भी तो बैठिए, पंडित जी।

[दिलावरखाँ और रहमान बेग बिछायत पर बैठ जाते हैं।]

पुरुषोत्तम—पूजा के पश्चात् भोजन तक मैं किसी वस्त्र आदि का स्पर्श नहीं करता। पहले आपको झंझट से मुक्त कर दूँ।

दिलावरखाँ—(कुछ सहमते हुए) आपके मुआफ़िक मुआजिज शख्स के लिए जो सुबूत मैंने माँगा उसकी कोई ज़रूरत तो नहीं है, आपकी बात ही सुबूत होनी चाहिए, लेकिन.....लेकिन आप जानते हैं कि ये सारे सियासी मामलात.....

पुरुषोत्तम—नहीं, नहीं आप कोई सङ्कोच न कीजिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करना धर्म ही है। मैं.....मैं भी आपको पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट कर दूँगा। (जिस दरवाजे से अहिल्या गयी है उसी से जाता है।)

रहमानबेग—जनाब, अब भी शक की कोई गुञ्जाइश बाकी है?

दिलावरखाँ—वह खाय तो उस लौंडे के साथ पहले मेरे सामने।

रहमानबेग—पर खाने के बाद?

दिलावरखाँ—हाँ, खाने के बाद तो शक की कोई गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए।

[दिलावरखाँ और रहमानबेग उत्कण्ठा से जिस दरवाजे से पुरुषोत्तम गया है उस दरवाजे की ओर देखते हैं। पुरुषोत्तम का एक हाथ में परसी हुई थाली और दूसरे हाथ में जल का कलश लिये हुए प्रवेश थाली में भात, दाल, शाक इत्यादि परसे हुए हैं। पुरुषोत्तम की सार्द्र उद्विग्नता नष्ट हो, उसका मुख प्रसन्नता से चमक रहा है। उसके पीछे

पीछे संभाजी आता है। पुरुषोत्तम बिना बिछायत की भूमि पर थाली रखता है, उसी के निकट जल का कलश। थाली के दोनों ओर पुरषोत्तम और संभाजी बैठ जाते हैं। पुरुषोत्तम भोजन का थोड़ा-थोड़ा अंश निकाल जमीन पर रख थाली के चारों ओर जल छिड़कता है।]

पुरुषोत्तम—(जल छिड़कते हुए) 'सत्यन्वरितेन एरिशिञ्चासि, (अब आचमन करते हुए) 'अमृतो वस्तरण मांस'

[अब पुरुषोत्तम और संभाजी दोनों उसी थाली में से खाना आरम्भ करते हैं।]

पुरुषोत्तम—(खाते खाते) कहिए, खाँ साहब, अब——अब भी आपको विश्वास हुआ या नहीं कि विनायक मेरा भानजा है?

[दिलावरखाँ का मुख शर्म से झुक जाता है। रहमानबेग कभी दिलावरखाँ की तरफ देखता है और कभी पुरुषोत्तम की ओर]

यवनिका

———

कुमार-संभव

उदय शङ्कर भट्ट

पात्र

सरस्वती	
शिव	
पार्वती	
गणेश	
महाराज चन्द्रगुप्त	सम्राट्
कालिदास	कवि
धन्वंतरि	वैद्य
राजामात्य	महामंत्री
गणदास	नाट्य शिक्षक
हरदत्त	”

ध्रुवदेवी, कुवेरनागा, प्रभावती, विलासवती आदि

स्थान	हिमालय
	अवंतिका

कुमार-संभव .....

[दो प्रासादों के बीच में एक उद्यान। उद्यान में कदली फल, नारङ्गी, ताल,,तमाल, हिंताल, चम्पक, अशोक, आम्र, जामुन के वृक्ष हैं। अधो पुष्पी, नागक, तुंबरी की लताएँ, चम्पा, मालती, गेंदा, यूथिका, रजनीगंध के पौधे हैं। बीच में स्फटिक निर्मित लघु सर है, जिसमें नील, रक्त, श्वेत, पीत कमल खिले हुए हैं। सरोवर के चारों ओर बैठने की स्फटिक शिलाएँ, उत्तर की तरफ़ लतामण्डप, पूर्व और पश्चिम में वाटिका-विहार बने हैं। सरोवर के पास सारस; हंस, बतकों के जोड़े घूम रहे हैं। शंख और सीपी की बनी हुई प्रतोली में से राजपरिचारिकाएँ भिन्न प्रकार के कौशेय वस्त्र, अलङ्कार धारण किये आ जा रही हैं। परिचारिकाओं की वेणी नितम्ब तक लटकती। कंचुकी से स्तन बंधे हुए। नीचे कौशेय पट्ट। मस्तक में कस्तूरी तिलक, भुजाओं में अंगद, वलय, मणिबन्द, गले में ग्रैवेयक। पैरों में चपली की तरह पादत्राण। अंगुलियों में रत्नजटित मुद्राएँ। एक प्रासाद से दूसरे प्रासाद तक जाने में थोड़ा ही मार्ग पार करना पड़ता है। एक प्रासाद महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है, दूसरा महारानी ध्रुवदेवी का; दो परिचारिकाएँ हाथों में फूल, मिष्टान्न तथा शाटकों से युक्त ढके हुए थाल लिये आती हैं। ये प्रासाद के साधारण द्वार हैं महाद्वार नहीं। दोनों के पास दो प्रतिहार खड़े हैं। दूर से वाद्यों की ध्वनि आ रही है, जिनमें कई स्वर समवेत

हैं। पहली परिचारिका, कौशेय-शाटिका से जिसके पैर उलझ गए, हैं, और गिरना ही चाहती है। समय प्रातःकाल दस बजे।]

दूसरी परिचारिका—अरे वासन्ती, तनिक देखकर तो चलो। क्या सौन्दर्य इतना दुर्वह हो गया है? (हंसती है)

वासन्ती—सखि ! क्या बताऊँ, तुम नहीं जानतीं यह कौशेय-पट्ट मेरे लिए भार हो गया है। सौन्दर्य तो भला क्या भार होगा ?

मधुरिका—यह हाथ में क्या सामग्री है ?

वासन्ती—आज कुमार का चालीसवाँ दिवस है, महारानी का शृंगार हो रहा है, इसीलिए ये जालपट्टक लिये जा रही हूँ।

मधुरिका—ओह, समझी। महाराज्ञी की परिचारिका का गौरव भी थोड़ा नहीं है। क्या इसीलिए आज नवपरिधान मिला है ?

वासन्ती—सब परिचारिकाओं को महाराज की ओर से एक एक रत्नहार देने की घोषणा हुई है न ?

मधुरिका-सुनती तो हूँ। आह कितना सुन्दर दिन है आज, तुम भी तो बहुत सुन्दर लग रही हो ?

पहला प्रतिहारी—छवि फूटी पड़ रही है, साक्षात् महाश्वेता हों जैसे।

दूसरा प्रतिहारी—काश्मीर किन्नरी जो हुई। एक ये हैं कोंकण की श्रीमती लवंगलता।

मधुरिका—(तीक्ष्ण दृष्टि से देखती हुई) अपना रूप तो देखो, जैसे बांस को वस्त्र पहना दिये गये हों।

पहला प्रतिहारी—यह बांस अब शीघ्र ही बुहारी की सींक होजाने वाला है।

दूसरा प्रतिहारी—प्रतीक्षा की भी कोई सीमा है वासन्ती। स्वयं महाराज भी जब अनुरोध करके हार गये तब मेरी क्या सामर्थ्य है कि मधुरिका को मना सकूँ। हाँ, यदि मुझे एक क्षण को भी कविवर कालीदास का रूप मिल जाता फिर देखता कौन भुवनमोहिनी मुझसे दूर भागती है।

पहला प्रतिहारी—बबूलका पेड़ कभी [illegible] ा-वल्लरी नहीं हो सकता।

दूसरा प्रतिहारी—आज दस वर्ष से तप कर रहा हूँ।

पहला प्रतिहारी—तप का फल मीठा होता है मन्थरक! धैर्य धारण करो।

वासन्ती—तूमने सुना सखि! आज कविवर महाराज और महाराज्ञी को वह ग्रन्थरत्न भेंट करने वाले हैं जो उन्होंने कुमार के जन्मोत्सव पर लिखा है। आज सायंकाल को वह कृत्य सम्पन्न होगा।

मधुरिका—हाँ, अभी-अभी सुना है, परम भट्टारक महाराज राजामात्य से कह रहे थे कि कविवर स्वयं उस ग्रन्थ का कुछ अंश हमको सुनाएँगे। आज ही ग्रन्थ समाप्त होगा न, उसी के निमित्त आज उत्सव हो रहा है। ओह, कितने महान् कवि हैं कालिदास।

वासन्ती—साक्षात् सरस्वती उनके मुख से बोलती हैं। मेरे देश काश्मीर में एक से एक महान् पण्डित हैं, कवि हैं; किन्तु

ऐसा रस तो किसी की कविता में नहीं पाया। उस दिन वे महाराज को 'कुमार सम्भव' के कुछ अंश सुना रहे थे।

पहला प्रतिहारी—वह ब्रह्मचारी वाला अंश क्या ? वाह, कितना सुन्दर है।

वासन्ती—हाँ, वही। सुनकर मेरी आँखों से तो झर-झर अश्रुपात होने लगा। पार्वती का कितना सुन्दर वर्णन है मधुरिका, और पाठ माधुर्य, मानों सरस्वती वीणा पर गा रही हों। इतना रस, पदाभिव्यक्ति, सरसता। मैंने देखा स्वयं महाराज उसे सुनकर कभी गद्‌गद हो उठते थे !

मधुरिका—कांचन को रत्न मिल गया है। हमारे महाराज का परम सौभाग्य है कि ऐसे महान् कवि उनके राज्य में हैं !

दूसरा प्रतिहारी—तो हमारे महाराज क्या कम हैं ? संसार में ऐसा महान् सम्राट् हुआ ही कौन है ?

वासन्ती—सम्राट् तो ऐसे हो गए होंगे किंतु कवि तो ऐसा हुआ ही नहीं।

(महाराज और अमात्य का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त—हाँ वासन्ती, तुम ठीक कहती हो। सम्राट् तो मेरे जैसे कई हो गए, किन्तु कालिदास जैसा कोई कवि नहीं हुआ। (महाराज को आया जान सब चुपके से इधर-उधर चली जाती हैं) क्यों राजामात्य ?

राजामात्य—क्या निवेदन करूँ महाराज, दो मोदक दोनों ही अमृत मधुर।

चन्द्रगुप्त—नहीं राजामात्य, वासन्ती यथार्थ कह रही है।

यह मेरा सौभाग्य है। अच्छा देखो, आज हमारी सभा में कुछ असामान्य व्यक्ति ही आ सकेंगे, इसका ध्यान रखना कविवर आज वह ग्रन्थ सम्पूर्ण करके लाने वाले हैं। महाराज्ञी भी होंगी।

राजामात्य—यथार्थ है प्रभो। इसके अतिरिक्त एक निवेदन यह है कि तक्षशिला, स्वात, पंचनद, मगध, उदयगिरि में कुमार-जन्म का उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया है।

चन्द्रगुप्त—ठीक है, राजा प्रजा की सम्पत्ति है। महामात्य, कच्छ और सिन्ध के विद्रोह की क्या अवस्था है?

राजामात्य—महाराज विष्णुदास के पुत्र सनकानिक वंशी को सिंध में शत्रु का दमन करने भेजा है। उनका सन्देश है कि प्रजा ने परम भट्टारक की प्रजा होना स्वीकार कर लिया है। स्वयं महाराज सनकानिक को प्रजा ने सहायता दी है। सांची के आम्रकार्दव नामक व्यक्ति ने कुमार जन्मोत्सव के उपलक्ष में अनेक संघाराम बनवाये हैं।

चन्द्रगुप्त—बौद्ध और वैष्णव दो थोड़े ही हैं। मेरे राज्य में सब धर्म एक समान हैं। महाकवि के ग्रन्थ के भेंट के उपलक्ष में उज्जयिनी की चमू, चमूप, बलाधिकृत, महाबलाधिकृत, बलाध्यक्ष, महाबलाध्यक्ष समस्त-सेनाग्रेसर, रणभाण्डागाराधिकरण तथा महासेनापति को एक मास का वेतन अधिक दिया जाय। कृषकों का एक मास का कर क्षमा किया जाय।

राजामात्य—जो आज्ञा प्रभो।

चन्द्रगुप्त—सम्पूर्ण पारिषद्यों को कौशेय-पट्ट तथा एक-एक रत्नहार भी। महामात्य? (कुछ उदास हो जाते हैं)

राजामात्य—महाराज कुछ चिन्तित हैं क्या ?

चन्द्रगुप्त—हाँ, मंत्री अभी प्रातःकाल एक स्वप्न देखा है, तभी से व्यग्र हूँ ?

राजामात्य—वराहमिहिर क्या कहते हैं ?

चन्द्रगुप्त—वे कहते हैं स्वप्न सत्य होगा।

राजामात्य—था क्या वह, महाराज का तो प्रताप ऐसा है कि दुःस्वप्न रह ही नहीं सकते। क्या था वह ?

चन्द्रगुप्त—देखता हूँ हमने उत्सव की आयोजना की है, उसी समय एक मुनि आये हैं।

राजामात्य—मुनिका दर्शन सुखकर है।

चन्द्रगुप्त—नारद हैं मानों। आते ही बोले— कल्याण हो राजन्' और देखो, उस समय उत्सव का भी सम्पूर्ण आयोजन हो।

राजामात्य—यह तो उन्होंने उचित ही किया। उत्सव का आयोजन अवश्य होगा महाराज ?

चन्द्रगुप्त—हाँ, मैंने कहा—'महामुने, प्रणाम करता हूँ'। —मैंने पूछा—कहाँ से पधारे ? वे बोले—'आज कैसा उत्सव है महाराज ? मैं ऐसे ही घूमता चला आया। तुम्हारे राज्य में सब प्रजा प्रसन्न है, तुम धन्यवाद दो राजन् !

मैंने कहा—मुनिवर आपकी कृपा है। हाँ, आज कुमार की उत्पत्ति का चालीसवां दिन है। आज महाकवि कालीदास, महाराज्ञी ध्रुवदेवी को 'कुमार सम्भव' भेंट करनेवाले हैं, उसी का उत्सव है महामुने। आपने वह महा काव्य सुना ? बड़ा सुन्दर काव्य है मुनि श्रेष्ठ ? जीवन में जो विजय मैंने प्राप्त की है

जो श्रेष्ठ कार्य किये हैं, वह कालीदास के एक श्लोक की बराबरी नहीं कर सकते। वे साक्षात् सरस्वती के अवतार हैं। अभी पन्द्रह दिन हुए वे कुछ अंश हमको सुना गए थे, आज वह समाप्त करनेवाले हैं। इस पर मुनि बोले—

'वह काव्य तो स्वामिकार्तिकेय के जन्म से सम्बन्ध रखता है न ? मैंने उसके कुछ अंश सरस्वती से स्वयं सुने हैं। उस दिन वे भगवान् शंकर और पार्वती को सुना रही थीं।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने कहा, हाँ, ऐसा, फिर उन्होंने क्या कहा ? मुनि बोले—

'क्या कहा होगा राजन् ? तुम क्या समझते हो,' इस पर मैंने कहा—भगवान् शंकर तो अवश्य प्रसन्न हुए होंगे। वह रचना ऐसी है और कालिदास स्वयं शंकर के उपासक हैं। मुनि एकदम उदास से होकर कहने लगे—

'हूँ:; रचना ऐसी ही है, हाँ अच्छी है।' मैंने इसके बाद आग्रह किया—कृपा करके बताइये आपकी क्या सम्मति है ? इस पर मुनि मेरी बात का उत्तर न देकर बोले—

'राजन्, मैं सरस्वती को खोज रहा हूँ। इधर वे कई दिनों से मिली नहीं हैं। ब्रह्मा, हमारे पिता उनसे मिलने के लिए चिन्तित हैं। स्वर्ग में वह कहीं नहीं मिल रही हैं। न जाने कहाँ चली गई, यहाँ भी नहीं हैं। कालिदास के आश्रम में भी नहीं हैं। और कालिदास पिछले एक सप्ताह से ध्यान मग्न हैं।'

इतना कहकर वे अन्तर्ध्यान हो गये।

उसके बाद निद्रा भंग हो गई। संभ्रम संज्ञा प्राप्त करके मैंने सोचा यह मैंने क्या देखा ? यह कौन थे — नारद ? कालिदास

एक सप्ताह से ध्यान मग्न हैं। प्रतिहारी से ज्ञात हुआ सचमुच वे ध्यान मग्न हैं।

(घूमते हुए लौटकर) मैं कालिदास को देखना चाहता हूँ।

राजामात्य—मैं संदेश भेजता हूँ पृथ्वीनाथ ?

चन्द्रगुप्त—नहीं, मैं स्वयं जाऊँगा और देखूंगा इस स्वप्न का क्या प्रभाव कवि पर पड़ा है। वस्तुतः राजामात्य, लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन देना भी मेरे जीवन का एक लक्ष्य है। मैंने कविवर से कहा है कि वे कुछ नाटक भी लिखें।.....इस समय तक जो नाटक लिखे गए हैं वे मुझे सन्तुष्ट न कर सके।

राजामात्य—भास के नाटकों में चरित्र विकास सम्वाद-सौंदर्य होते हुए भी रस परिपाक की त्रुटि है, ऐसा मैंने अनुभव किया है।

चन्द्रगुप्त—मैं चाहता हूँ कि कालिदास ही नाटक लिखें। निश्चय ही उनके नाटक महाकवि भास के नाटकों से श्रेष्ठ होंगे, ऐसा विश्वास है।

राजमात्य—उस दिन खेले जाने वाले उनके नाटक के निदर्शन को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। एक तरह से 'स्वप्न-वासवदत्ता' में जीवन आ गया।

चन्द्रगुप्त—माणिक्य सब जगह चमकता है राजामात्य ! उनकी कविता में जितनी स्वाभाविकता है, जितना रस-परिपाक है, जितना प्रवाह है, वह मुझे बहुत कम अन्यत्र मिला है राजामात्य ?

राजामात्य—उनकी कविता को सुनकर ऐसा ज्ञात होता है

मानो कोई अदृश शक्ति बोल रही है। वे स्वयं पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो उठते हैं।

चन्द्रगुप्त—वे अपूर्व हैं।

(चले जाते हैं)

२

[कैलास-शिखर के ऊपर देवदारु-निर्मित एक कुटीर। उसके बाहर तृणासन पर पार्वती बैठी हैं। सामने गणेश उनके घुटनो के लगे ऊंघ रहे हैं। कभी-कभी सूंड़ उठाकर इधर-उधर हिला देते हैं, कभी मुँह चलाते हैं। कुछ दूर पर सरस्वती बैठी हैं। सामने का हिम-खण्ड रिक्त है। वह शिव का सिंहासन है। ज्ञात होता है दोनों में कुछ गरमागरम विवाद हो चुका है। बात बढ़ जाने पर गणेश की निद्रा भंग हो जाती है, वे सिर उठाकर इधर-उधर देखने लगते हैं और कोई विघ्न जान कर फिर ऊंघने लगते हैं कभी-कभी वीरभद्र त्रिशूल लेकर इधर निकल आते हैं पार्वती के सामने अपने अस्तित्व का भान कराकर चले जाते हैं। दूर पर बैठा सिंह कभी-कभी एक दहाड़ लगाता हुआ मुँह चलाकर शान्त हो जाता है पार्वती रु-मृग के चर्म का परिधान ओढ़े हैं जो कोरों से बंधा हुआ है काले मृग के चर्म से उनकी मुख-शोभा द्विगुणित हो रही है। सिर के बाल बिखरे हुए। रत्नों की माला गले में। इसमें सूर्य के प्रकाश में वह माला कभी-कभी इतनी चमक जाती है कि पार्वती का मुंह महाप्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पड़ता। सरस्वती रक्त-कौशेय की शाटिका पहिने आभूषणों

से सुसज्जित। पार्वती का छोना सरस्वती को कमल का पुष्प-गुच्छा जानकर उन्हें चबाने तथा चाटने दौड़ पड़ता है। पार्वती उसे हटा देती हैं। दूर भूत प्रेतों की बातचीत की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई दे रही है।]

पार्वती—तुम्हीं सोचो, जिसने मेरे सम्बन्ध में ऐसा वर्णन किया हो उसे मैं कैसे क्षमा कर सकती हूँ, चाहे वह स्वयं इन्द्र ही क्यों न हों।

सरस्वती—किन्तु तुम्हें जगन्माता भी तो उसने माना है। मुझे दुःख है तुम व्यर्थ ही नारद की बातो में आ गई, उसका तो कार्य ही परस्पर झगड़ा कराना है माँ ?

पार्वती—इसमें नारद का कोई दोष नहीं है। यह तो स्पष्ट सत्य है। क्या तुम उचित समझती हो कि किसी के सम्बन्ध में इतना शृङ्गार वर्णित किया जाय और वह अनुचित न माने !

सरस्वती—सुन्दर को सुन्दर कहने में दोष क्या है यही मैं नहीं जान सकी। स्त्री के यौवन की सार्थकता उसके रूप में, उसके सौंदर्य में, उसके विलास में है। पुरुष के यौवन में वीरत्व है, साहस है, कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता है, किन्तु स्त्री की चरम सार्थकता मातृत्व में है और मातृत्व से पहले यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति का वही रूप है जिसके लिये प्रत्येक ललना जन्म-जन्म से आकांक्षा करती ! वरदान माँगती है ! इसके अतिरिक्त तुम्हारे विवाह के द्वारा स्कन्द की उत्पति के लिए विश्व की जड़ चेतन, अमर-अजर सभी शक्तियों ने कितनी घोर प्रार्थना की है; यह भी तो किसी से छिपा नहीं है। मैं तुमसे सत्य कहती

हूँ कि कालिदास की यह रचना आप्रलय अमर रहेगी। केवल एक बार तुम्हारे प्रसन्न होने की आवश्यकता है माँ ?

पार्वती—मैं कालिदास को जानती हूँ। कई बार हम दोनों ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया है, और भगवान् तो उन पर इतने प्रसन्न हैं कि व्यास, वाल्मीकि के बाद उन्हें ही स्मरण करते हैं।

सरस्वती—यह भगवन् का महान् अनुग्रह है। उस दिन 'कुमार-संभव' का प्रथम और दूसरा सर्ग जब मैंने सुनाया तो वे गद्गद हो उठे और तुम भी कम प्रसन्न नहीं थीं।

पार्वती—तुम्हें ज्ञात है विधाता, तुम्हारे पिता कालिदास को उत्पन्न करने के कितने विरुद्ध थे ?

सरस्वती—वे तो हुये वृद्ध। उनसे कोई क्या कहे, उस कवि का होना विश्व-कल्याण के लिये परम आवश्यक है।

पार्वती—नहीं कहते थे व्यास और वाल्मीकि के बाद उस कोटि का कोई भी कवि पैदा नहीं किया जा सकता।

सरस्वती—किन्तु व्यास और वाल्मीकि से हम उसकी समता ही कहाँ कर रहे हैं ? भगवान् वेदव्यास को तो मैं जानती हूँ, वे तो साक्षात् विष्णु के अवतार हैं।

गणेश—(एक दम चेतन होकर) माँ व्यासजी आ गए क्या ? उनसे कह दो मैं सो रहा हूँ। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है। प्राण ही चूस लिये उन महानुभाव ने तो।

पार्वती—नहीं पुत्र, उनकी बात चल पड़ी कोकिल।

गणेश—नहीं नहीं, मुझसे अब वह काम न होगा। उनकी

वाणी तो रुकना जानती ही नहीं। पवन के समान अव्याहत। काल के समान अणु-पणुमाण तथा महत्ता से युक्त। आज भी जब स्मरण हो जाता है तब मुझ विघ्नहर को भी एक विघ्न उपस्थित हो जाता है। तुम जानती हो जब मैं महाभारत लिखने बैठा तब मैंने क्या कहा था।

सरस्वती—देखो भैय्या, अब वह समय नहीं आवेगा। तुम भी तो जानते थे कि मेरे जैसा कोई लेखक नहीं। अभिमान नहीं करना चाहिये।

गणेश—अभिमान की बात नहीं। जब महाभारत लिखने का प्रश्न आया तो मैंने सोचा कि व्यास जी को चमत्कार दिखाने का यह अच्छा अवसर है। इस लिए कह बैठा—'देखिये, व्यास जी यदि आप रुक गए तो मैं आगे नहीं लिखूँगा।'

पार्वती—फिर भी न जाने तूने इतना कैसे लिख लिया। हाथ दुख गए होंगे पुत्र? (उनके हाथ सहलाती हैं) हाँ फिर क्या हुआ!

सरस्वती—आगे का रहस्य मैं बतलाती हूँ। जब गणेश का आग्रह उन्होंने सुना तो चुप हो रहे और मेरी प्रार्थना करने लगे। एक बार मन में आया कि कोई और लेखक खोजें। व्यास को उस समय बड़ी ग्लानि हुई। जिनकी वाणी वेदों का विस्तार करते न रुकी, पुराणों का उपबृंहण करते न परास्त हुई, वे इन गणेश के सामने धैर्य खो बैठे। मैं उस समय पिता के पास बैठी थी। वे एक वाणी से चारों मुख से बोल उठे 'अब! महाभारत अवश्य लिखा जाना चाहिए।' मैंने उत्तर दिया—मैं जाती हूँ।

आकर जो मैंने देखा तो व्यास चुप बैठे थे। मैंने कहा—मैं आपकी सहायता करूँगी। कूट बोलिये और गणेश से कहिये कि समझकर लिखें।

(हँसती है)।

गणेश—कूट, वह भी एक भयङ्कर काम था। मुझे एकदम सम्पूर्ण कोषों को छानना पड़ता था। कभी सूँड़ से माथा खुजलाता, कभी उसे दबाता तब कहीं जाकर श्लोकों के अर्थ समझ में आते। किन्तु माँ, व्यास सचमुच व्यास है, यह मानना पड़ेगा। महाभारत में सहस्रों शब्द तो ऐसे हैं जिनको उन्होंने प्रकृति-प्रत्यय लगाकर तत्क्षण बनाया है। अच्छा, तो यह आपकी करामात है, अब समझा ? यह बात उस समय ज्ञात होती तो मैं भी व्यास को वह चकमा देता कि तुम्हें भी जाकर ब्रह्म से ही पूछना पड़ता।

सरस्वती—यह न कहना भैया, व्यास से छिपा ही क्या है—उस काले कलूटे से।

गणेश—फिर भी मैं तुमसे डरता हूँ जीजी ! अब न जाने क्या पचड़ा ले बैठी। मालूम है रात भर पिता और माँ में विवाद होता है। भला, नारदजी क्यों क्रुद्ध हैं। माँ तो केवल नारदजी के कहने से क्रुद्ध हैं।

पार्वती—तू क्या जाने कि मैं नारद के कहने से ही क्रुद्ध हूँ। प्रत्येक को अपनी मान-मर्यादा प्रिय होती है पुत्र !

सरस्वती—मुझे तो यह खेद है कि ऐसा सुन्दर काव्य अधूरा रह जायगा माँ !

पार्वती—और मुझे यह प्रसन्नता है कि मैंने कवि को उसकी

धूर्तता का दण्ड दे दिया।

गणेश—यदि वे मेरा नाम लेते तो मैं कभी सुन्दर काव्य को अपूर्ण न रहने देता।

सरस्वती—तो फिर तुम्हारा नाम दिलवा दूँ पहले! मैं क्या करूँ। पिताजी कहते हैं कि मैं वृद्ध हो गया संसार का निर्माण करते-करते, कोई मेरा वर्णन ही नहीं करता। तुम कहते हो मेरा नाम नहीं है। याद रक्खो गणेश, भक्ति की पुस्तकों में, साधारण कथाओं में, पूजा-पाठ के ही तुम काम के हो, महान् शास्त्रों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध!

गणेश...(हँसकर) अच्छा भला नारद क्यों क्रुद्ध हैं!

पार्वती—नारद मेरा भक्त है। मेरा सौन्दर्य वर्णन, उससे नहीं देखा गया इसलिए।

गणेश—मिथ्या है (स्कन्द का प्रवेश। सरस्वती और माँ को प्रणाम करके)

स्कन्द—देखो माँ, नारद की यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

पार्वती—क्या!

स्कन्द—सुना है, तुमने 'कुमार-सम्भव' को अपूर्ण रहने का शाप दिया है। मेरे ऊपर एक ही तो काव्य लिखा गया और वह भी अधूरा। मुझसे नारद कह रहे थे कि 'चन्द्रगुप्त' के पुत्र का नाम कुमार रक्खा गया है। एक तरह से तुम्हारी समानता की गई है—यह बुरी बात है। क्या चन्द्रगुप्त का पुत्र स्कन्द के समान हो जायगा! इस तरह कह कर मुझे उभार रहे थे। किन्तु स्कन्द मेरा ही तो नाम नहीं है। जब मैंने क्रोध में जाकर कालिदास

के पास रखी वह पुस्तक पढ़ी तो मेरा हृदय गद्‌गद् हो गया। सुना है, तुम्हें वह शृङ्गार के नाम से बहला गये हैं।

पार्वती—तुम सब अपना-अपना स्वार्थ देखते हो। स्कन्द इसलिए चाहता है कि उसके ऊपर एक काव्य-निर्माण हुआ। गणेश चाहता है कि यदि उसका नाम लिया जाता तो मेरे शाप के बाद भी ग्रन्थ पूर्ण हो जाता। सरस्वती इसलिए चाहती हैं कि यह हुई रसिक कला, साहित्य की स्रोत, इसे साहित्य की अपूर्णता रुचिकर नहीं है। भगवान् शङ्कर अपने भक्त का कार्य पूर्ण करने पर तुले हैं। अब भी वे कदाचित् यहीं हों।

(शङ्कर का प्रवेश)

शङ्कर—हाँ देवी, आज एक सप्ताह से कालिदास चिन्तित हैं। आज ही वह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त को भेंट किया जायगा। ध्रुवदेवी ने अपने पुत्र का नामकरण कुमार ही किया है। मैंने कई बार यत्न किया वह आगे लिखे किन्तु लेखनी रुक जाती है, छन्द ठीक नहीं बन पाते। वह रस भी नहीं है। मैंने स्वयं एक दो श्लोक लिखने का प्रयत्न किया तो रेखाएँ खिंच कर रह गईं। तुम उसे क्षमा करो देवि! (सरस्वती की ओर देखकर) अरे, सरस्वती, तुम यहाँ क्या कर रही हो? HG2061 V31C

सरस्वती—माँ से अभिशाप लौटाने की प्रार्थना करने आई थी किन्तु ये मानती ही नहीं (गणेश और स्कन्द सिटपिटाते से भाग जाते हैं)। 1.G11.2561

पार्वती—आप गङ्गा को लिये भ्रमण करते रहें, भक्तों को वरदान देते रहें। आपको क्या, किसी का मान हो अथवा अपमान।

सरस्वती—मैं जाती हूँ। आज कवि के जीवन-मरण का प्रश्न है, दया कीजिये भगवान्।

शङ्कर—उज्जयिनी से आते हुए ध्यान आया कि विष्णु से मिलता चलूं। कदाचित् कोई समस्या का समाधान मिल जाय। उन्होंने भी वह काव्य पढ़ा है। और स्पष्ट तो यह है उसके अंश सुनकर लक्ष्मी को ईर्ष्या होने लगी कि उसका वर्णन कवि ने क्यों नहीं किया। विष्णु तो गद्गद् हो उठे हैं। कह रहे थे वाल्मीकि के बाद ऐसा काव्य बना ही नहीं। विधाता को यह दुःख है कि कालिदास का निर्माण ही क्यों किया गया? इसी से सम्पूर्ण स्वर्ग में गड़बड़ी मची है। बेटी सरस्वती, विधाता कह रहे थे कि उन्होंने तुम्हारे ही कहने से कालिदास का निर्माण किया है।

सरस्वती—सत्य है भगवान्, मैं चाहती थी कि साहित्य-कला का प्रचार करने के लिए मनुष्यों में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न किया जाय जो लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन दे सके।

पार्वती—मनुष्य सदा से देवताओं का विरोधी रहा है। उसने हमारे प्रति विद्रोह रचकर महत्व स्थापन करने का प्रयत्न किया है। वह देवताओं के नाम पर अपने राजाओं की स्तुति करता है। यह क्या अच्छी बात है, क्यों नहीं ध्रुवदेवी का उसने वर्णन किया।

शङ्कर—संसार आश्रम चाहता है, उसकी शक्तियाँ ससीम हैं। मृत्यु, जीवन, यश, अपयश उसके हाथ में नहीं है, इसलिए वह डरता है और कालिदास तो मेरा परम भक्त है, तुम्हारा भी। तुम अपना शाप लौटा लो देवि!

पार्वती—नाथ, यह मेरा मत है, मेरा विश्वास है कि कालिदास ने उचित नहीं किया।

सरस्वती—माँ, आप आद्याशक्ति हैं, विश्वधात्री हैं, जगन्माता हैं। इस संसार का प्रणयण आप से हुआ है। अतएव मानवोचित इन छोटी बातों में आपको नहीं आना चाहिए। आप तीनों काल, त्रिप्रकृति हैं, फिर राजस से इतना भय क्यों ? (जाने लगती है)

पार्वती—(मुस्कराकर) सरस्वती, तू बड़ी चतुर है। अच्छा, मैं सोचकर उत्तर दूँगी।

शङ्कर—मैं समाधिस्थ होने जा रहा हूँ, देवि !

पार्वती—नाथ, दया कीजिये। ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी जो आप समाधिस्थ होने जा रहे हैं ? एक साधारण व्यक्ति के लिए इतना कष्ट ? कालिदास जैसे अनेकों जीव संसार में हैं। उनके लिए भी तो···(शङ्कर चले जाते हैं)।

सरस्वती—(लौटकर) आओ, मैं तुम्हें दिखाऊँ। (पार्वती सरस्वती खड़ी हो जाती हैं) दोनों दूर देखती हैं—दृश्य बदलता है—(एक राजमार्ग) देखो, वह राजमार्ग है। इस समय तुम वर्तमान, भविष्यत् सब देख रही हो। (दोनों देखती हैं। मार्ग में कालिदास की मूर्ति है। छाया-चित्र की तरह महाराज चन्द्रगुप्त कालिदास का अभिवादन कर रहे हैं। लोग आते और प्रणाम करते जाते हैं)

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—सम्राट् चन्द्रगुप्त। (फिर कुमार गुप्त आते हैं। वे भी कालिदास को प्रणाम करते हैं)।

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—सम्राट् कुमारगुप्त । (एक व्यक्ति आते हैं)

लिप्तामधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः
तेदेदवर्त्म वैदर्भं कालिदाससेन शोधितम् ।

(जिस महाकवि की वाणी मधु के रस से आलुप्त थी उसी कालीदास ने वैदर्भी रीति का मार्ग दिखाया है) (प्रणाम करके चले जाते हैं ।)

पार्वती—यह कौन है ?

सरस्वती—महान् कवि दण्डी ।

(एक व्यक्ति आते हैं, कालिदास को प्रणाम करते हुए —]

निर्गतासु नवा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु,
प्रीतिर्मधुरसाद्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

(कविवर कालिदास की आम्र—मञ्जरी के समान मीठी और सरस सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?)

पार्वती—यह कौन है !

सरस्वती—जिनके वर्णन के सामने संसार का वर्णन उच्छिष्ट है, वे महाकवि बाण ।

(एक हैट, बूट, पतलून धारी व्यक्ति आकर प्रणाम करके —)

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यश्चान्यन्मनसो रसायनमतः संतर्पणं मोहनम् ,
एकी भूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयोः ,
ऐश्वर्यं यदि वांच्छसि प्रिय सखे, शाकुन्तलं सेव्यताम ।

(ग्रीष्म और वसन्त के पुष्प और फल तथा मन को प्रसन्न

करनेवाले मोहक जितने रस हैं, उनको तथा स्वर्गलोक तथा भूलोक के अभूतपूर्व ऐश्वर्य को हे मित्र, यदि तुम एकत्र देखना चाहते हो, तो कालिदास के नाटक शकुन्तला को पढ़ो।)

पार्वती—ये कौन हैं !

सरस्वती—जर्मनी के कवि गेटे। वह देखो असंख्य नर-नारियों, बालकों वृद्धों के करों में कालिदास की पुस्तकें हैं, वे सब पढ़ते जा रहे हैं।

पार्वती—मैं समझती थी वह साधारण व्यक्ति होगा। यह तो सचमुच महान हैं !

(एक व्यक्ति हाथ जोड़कर खड़ा है)

मनोहारिणीं कुमार-सम्भवकथां गायता यावत्तौ,
स्तूयेतेस्मि कवीश्वर ? भवता गौरिगिरीशौ भगवन्तौ,
तस्थुः परितः प्रभवा सर्वे शान्ततमाश्च तत्तोमंदम्
सायंतन्त्रो नीरदमाला आचक्रमिरे गिरिशिखरम् ।

पार्वती—ये कौन हैं !

सरस्वती—महाकवि रवीन्द्रनाथ।

(दूर से एक व्यक्ति गाता चला आता है —)

विश्वभारती कल्पलता के अमर सुमन मकरन्द अमंद
युग युगान्त का तिमिर चीरकर हुए प्रकाशित जिसके छंद,
नग अधिराजशिखर गौरव से जिनके गाते गीत ललाम,
कविकुल गुरु उन वश्यलाक् श्रीकालिदास को सतत प्रणाम।
अमर-भारती वीणा-वादिनि, जिनको पा कृतकृत्य हुई,
कालत्रय की प्रकृति भाव ले शब्द-शब्द की भृत्य हुई,

अति तेजस्वी अमर, यशस्वी, अमर विधाता, अति अभिराम,
उस प्रकाश को, उस विकास को, कालिदास को सतत प्रणाम ।

पार्वती—सुन्दर, कालिदास वस्तुतः महान् हैं। मुझे खेद है कि मैंने ऐसे व्यक्ति को शाप दिया। (पार्वती चिन्ता-मग्न खड़ी रहती हैं)।

सरस्वती—(स्वगत) कदाचित् कुछ काम बन जाय। कालिदास, मैं तुम्हारे लिए जो भी कर सकती थी, कर रही हूँ। यद्यपि मुझे तुम्हारे वर्णन में कोई आपत्ति नहीं है। (पार्वती से) क्या सोच रही हो माँ !

पार्वती—(हँसकर) सोचती हूँ एक बार शङ्कर से फिर विवाह होता ?

सरस्वती—(हँसकर) एक बार यौवन के दिन लौटते, क्यों ?

पार्वती—देवताओं के बूढ़े न होने पर भी इच्छाएं तो बुढ़ा जाती हैं सरस्वती ?

सरस्वती—प्राणी की साधारण इच्छाएं ही बूढ़ी होती हैं और देवताओं को तो कुछ भी अप्राप्य न होने से उनके इच्छाएँ होती ही नहीं मां ? कालिदास के सम्बन्ध में फिर तुम्हारा क्या मत है ?

पार्वती—शाप नहीं लौट सकता। हाँ, मैं आशीर्वाद देती हूँ वह काव्य अधूरा रहकर भी विश्व-साहित्य का उज्ज्वल-रत्न होगा। चलो। कालिदास, तुम महान हो।

सरस्वती-(सोचती हुई) चलो, यह मेरा काम है, तुम्हारा नहीं।

———

३

[कालिदास का निवास प्रासाद। पहले दृश्य में दिखाए गए उद्यान के समान। जहाँ छहों ऋतुएँ निवास करती हैं। उद्यान में अनेक प्रकार के पुष्पों, फलों से लदे वृक्ष। पास ही वाटिका। उत्तर की ओर क्रीडापर्वत, पूर्व की ओर वापी। अनेक प्रकार के पशु पक्षियों से युक्त। क्रीड़ा-पर्वत के नीचे लताच्छादित वाटिका में महाकवि वर्तमान हैं। लता की यवनिका बनी हुई है, जो दूर से दिखाई देती है। उससे कुछ दूर हटकर स्वर्ण-स्यन्दिका पर विलासवती मौन उदास बैठी है। विलासवती केशर के रंग सी मधुर, कृश-शरीर वाली रमणी है। नखशिख मानों विधाता ने विशेष रूप से गढ़कर बनाए हैं। केश-राशि बिखरी हुई। नेत्र ज्योतिहीन, फिर भी मनोज्ञ। कभी चिन्ताधिक्य के कारण भ्रमण करने लगती है, कभी बैठ जाती है। परिचारिका मधुपात्र लिए खड़ी है।]

परिचारिका—[कुछ आगे बढ़कर] लीजिये, थोड़ा सा मधु-पान कर लीजिये, चित्त स्वस्थ हो जायगा देवि, आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

विलासवती—नहीं, मदनिके ले जा। मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। न जाने कविवर को क्या हो गया है? वे पिछले सप्ताह से बहुत ध्यान-मग्न हैं।

परिचारिका—यह तो मैं देख रही हूँ। वैद्यवर धन्वन्तरि ने कोई उपचार नहीं बताया?

विलासवती—सब कुछ कर चुकी, सब उपाय व्यर्थ गए। वे तन्मय हैं, बोलते भी नहीं। मैं जीवित न रह सकूंगी मदनिके, यदि कवि को कुछ हो गया। ओह ऐसी कल्पना करते भी प्राण निकले जा रहे हैं।

(दौड़ा हुआ प्रतिहारी आता है)

प्रतिहारी—महाराज महाराज प...धार रहे हैं, देवि!

विलासवती—महाराज? [उठकर] कहाँ हैं?

परिचारिका—[मधुपात्र लता की ओट में रखकर खड़ी हो जाती है, महाराज धन्वन्तरि वैद्य के साथ आते हैं। विलासवती और परिचारिका दोनों नतमस्तक होकर खड़ी हो जाती हैं।]

चन्द्रगुप्त—कहाँ हैं कवि?

[विलासवती लताच्छादित वाटिका की ओर सङ्केत करती है।]

चन्द्रगुप्त—मैं कवि का दर्शन करना चाहता हूँ।

विलासवती—देवाधिदेव, आज्ञा नहीं है। कवि व्यस्त हैं।

चन्द्रगुप्त—आज्ञा नहीं है, किसकी आज्ञा नहीं है?

विलासवती—क्षमा कीजिये देव, कवि किसी से मिलना नहीं चाहते।

चन्द्रगुप्त—किन्तु मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।

[विलासवती गुप रहती है, चन्द्रगुप्त स्यन्दिका पर बैठ जाते हैं]

चन्द्रगुप्त—तुम जानती हो, आज कविवर महासम्राज्ञी को ग्रन्थ भेंट करने वाले हैं?

विलासवती—जानती हूँ, देव!

चन्द्रगुप्त—मैं जानना चाहता हूँ उस काव्य का क्या हुआ?

विलासवती—वह अपूर्ण है।

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्य से) अपूर्ण है ?

विलासवती—जी, उसी के कारण वे आज एक सप्ताह से अस्वस्थ हैं।

धन्वन्तरि—महाराज, मैं निवेदन कर चुका हूं कि कालिदास को कोई शारीरिक कष्ट नहीं है केवल कोई मानसिक चिन्ता है। उसके लिए मैंने कई प्रयोग किये किन्तु सब व्यर्थ हुए।

चन्द्रगुप्त—(सोचकर) अच्छा देखो, कवि किस दशा में हैं? (विलासवती जाती है और लौटकर)

विलासवती—(प्रसन्नता से) महाराज वे लिख रहे हैं। मेरे पहुँचने की आहट भी उन्होंने नहीं सुनी।

चन्द्रगुप्त—दीखते तो स्वस्थ थे न ?

विलासवती—मुख तो प्रसन्न दिखाई देता था। ओह वे तो सचमुच इस समय पूर्वावस्था में दिखाई दिये। ज्ञात होता है काव्य लिखा जा रहा है। महाराज मैं पिछले एक सप्ताह से एक क्षण के लिए भी उनके पास से नहीं हटी हूं। जब वे चिन्ता करने या लिखने की चेष्टा करते तो उनके मुख पर स्वेद-विन्दु उठते, तब मैं स्वयं उन्हें पोंछ देती थी, देव।

चन्द्रगुप्त—देवि तुम धन्य हो जिसने कवि को इतना अधीन किया है।

विलासवती—आह वह कितना सुख का समय होगा जब मैं उनके वीणा-विनिन्दित स्वर से आगे की कथा सुनूँगी। महाराज, यह न जाने मेरे पूर्व जन्म के कौन से सौभाग्य का फल है

कि मेरे ऊपर कविवर ने अपने कृपा-कण बरसाये।

चन्द्रगुप्त—मैं स्वयं सोचकर गर्वोन्मत्त हो उठता हूं कि कालिदास मेरे राज्य में हैं। यह मेरा और इस युग का सौभाग्य है।

(कालिदास कुमार सम्भव का एक श्लोक गुनगुनाते हैं)

हृदये वससीतिमत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्,
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनंग, कथमत्तारतिः।

(पति कामदेव के भस्म होने पर विलाप करती हुई रति कहती है—'तुम तो कहा करते थे तू मेरे हृदय में सदा बसती है परन्तु अब मुझे ज्ञात हुआ कि ये बनावटी बातें थीं। यह केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए कहते थे, नहीं तो आपके नष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षत रहती !')

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमिकैतवम्,
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनंग, कथामत्तारतिः।

धन्वन्तरि—प्रवाह चल पड़ा है। महाराज, कवि का स्वास्थ्य उनकी कविता है। यह भी एक प्रकार का ज्वार है, जब तक उद्गार के रूप में निकल नहीं जाता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती।

चन्द्रगुप्त—तुम ठीक कहते हो धन्वन्तरि, कविता निर्झरिणी के समान है, जो बहने के पश्चात् ही शान्त होती है। विलासवती, मैं कवि से मिलूँगा।

धन्वन्तरि—महाराज, अपराध क्षमा हो। यह अवसर उनके पास जाने का नहीं है। वे कविता-प्रणयन में मग्न हैं।

चन्द्रगुप्त—(उदास होकर) अच्छा विलासवती, कवि का विशेष ध्यान रखना। इसके अतिरिक्त आज तुम्हारा नृत्य होगा।

मैं तुम्हें सादर निमन्त्रित करता हूँ।

विलासवती—किन्तु, किन्तु मैं तो क्षमा चाहती हूँ, देव!

चन्द्रगुप्त—मैं सब जानता हूं। तुम्हें किसी प्रकार भी क्रय नहीं किया जा सकता। किन्तु इस ग्रन्थ के उपलक्ष में होनेवाले उत्सव-नृत्य में क्या तुम्हें कोई आपत्ति है? यह स्वयं कालिदास का सम्मान है, देवि।

धन्वन्तरि—महाराज का अनुरोध है, देवि?

विलासवती—(सोचकर) मैं अवश्य आऊँगी।

चन्द्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता होगी। (दोनों चले जाते हैं)।

विलासवती—(एक फूल तोड़कर सूँघती हुई) मेरे जीवन के प्रिय सहचर, मेरे हृदय के आनन्द, तुम्हारी सरस्वती इसी तरह मधु बरसाती रहे, यही मेरी आकांक्षा है। (कुमार-सम्भव का एक श्लोक गुन-गुनाती है। इतने में एक मृग-छौना आकर विलासवती का वस्त्र पकड़ लेता है। विलासवती देखकर आनन्द में मग्न होकर उसे उठा लेती है।) आतुर, तुम सचमुच बहुत आतुर हो। (प्यार करके उसे छोड़ देती है। मृग हटकर पास खड़ा हो जाता है)।

मदनिका—आज प्रातःकाल से यह मृगछौना बार-बार लता-मंडप में कवि के पास जाता है और निराश-सा लौट आता है, देवि।

विलासवती—ज्ञात होता है ध्यानमग्न होने के कारण कवि से इसे प्यार नहीं मिला। मैं स्वयं बहुत विह्वल हो जाती हूँ कभी-कभी, मदनिके। जीवन में मैंने एक ही व्यक्ति को हृदय दिया है, एक ही को प्राणदान किया है, और वे हैं कालिदास। देख तो

सही वे क्या कर रहे हैं ? ((इतने में कौशेय-पट धारण किये भव्यमूर्ति कालीदास गुनगुनाते आते हैं) ओ, (प्रसन्नता दिखाती हुई) क्या आप लिख चुके ?

कालिदास—(जिनकी आँखों में मद का उतार झलक रहा है फिर भी मोहक) तुम्हारे बिना मैं कुछ लिख सकता हूँ क्या ? (कुछ देर ठहरकर) ज्ञात होता है भगवती पार्वती ने मुझे उनके शृङ्गार-वर्णन के अपराध में शाप दिया है। इसी कारण मैं यत्न करके भी कुछ नहीं लिख पा रहा हूँ। कुमार-सम्भव पूर्ण न होगा, इसका मुझे खेद है। शृङ्गार किसी प्रकार भी गर्ह्य हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

विलासवती—हम लोग सभ्य हैं न ? सब प्रत्यक्ष, अनुमान-गम्य होते हुए भी एक सीमा तक ही तो हमें जाना होगा। किन्तु पार्वती के शृङ्गार वर्णन में मुझे तो कोई भी हेय अंश दिखाई नहीं देता। वह तो इतना मनोहर है कि पढ़कर रोमाञ्च होता है। कवि, तुम्हारी वाणी में कितना रस है ?

कालिदास—स्फूर्ति तो तुम्हीं हो विलासवती, (श्लोक गाते हैं। विलासवती उनके बालों में हाथ फेरती है, मदनिका पंखा झलती है) मनुष्य और प्रकृति दोनों में संघर्ष चल रहा है कि कि कौन अधिक सुन्दर है। मेघ, बिजली, पूर्णनिशा, नदी, भूधर, नदी, कुसुम एक से एक सुन्दर; एक से एक अधिक मोहक हैं। मानों सम्पूर्ण विश्व का रस, आनन्द एक-एक में आकर एकत्र हो गया है। किन्तु.....

विलासवती—किन्तु...,

कालिदास— मनुष्य इससे भी सुन्दर है। वही तो उस सौन्दर्य का परिज्ञाता है। यदि मनुष्य न होता तो कैसा लगता, प्रिये ?

विलासवती—जैसे तुम्हारे बिना मैं ? (हँसती है)

कालिदास—और तुम्हारे बिना मैं कैसा होता, जानती हो ?

विलासवती—जानती हूँ।

कालीदास—बताओ। (उठ बैठते हैं आँखों में आँखें डालकर) बोलो, प्रिये।

विलासवती—जाइये, कविता लिखिये। मैं नहीं जानती। (हँसती हुई टहलने लगती है)

कालिदास—तुमने ठीक सङ्केत किया। न मैं कवि होता, न कुछ भेड़ें चराता। यही न ?

विलासवती—(दौड़ कर) नहीं, यह मेरा आशय नहीं प्राणाधार !

कालिदास—यह विश्व चमक-रहित स्वर्णखण्ड होता, जो खान से निकलता है। व्यर्थ, सब व्यर्थ।

विलासवती—(पास जाकर) आप न जाने कैसे इतना सुन्दर लिख जाते हैं, केवल यह बात मैं यत्न करके भी नहीं जान पाई।

कालिदास—इसमें जानने की क्या बात है। यह भी एक वेग है। मस्तिष्क हृदय से मिला हुआ प्राणों का वेग जिसमें रस की अतिमात्रा है। जैसे तुम्हें देखकर हृदय में एक प्रकार की पुलक, एक प्रकार की प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य देख कर मन में एक प्रकार का आह्लाद होता है। उस आह्लाद को, उस सौन्दर्य को बँधे शब्दों में उतार देने का नाम

'कविता' है। जो कवि जितनी सूक्ष्म भावना को तन्मयता के साथ, आत्मा में व्याप्त रस को पचाकर शब्दों के चित्रों द्वारा, कल्पना की कूचिका से मानव के हृदय-पटल पर प्रत्येक भाव चेष्टा से युक्त खींच सकता है वह उतना ही महान् कवि है।

विलासवती—ठीक है। अभी आप प्रकृति और पुरुष के संघर्ष की बात कह रहे थे न ?

कालिदास—हाँ, वस्तुतः पुरुष के भीतर जो सौन्दर्य की एवं ग्राह्य-अग्राह्य की भावना आई है, वह प्रकृति के कारण ही तो। पुरुष प्रकृति से ही पल्लवित हुआ है, उसके ज्ञान का प्रसार प्रकृति है। इसः लिए लौकिक जीवन में प्रकृति मुख्य है।

विलासवती—आपने एक जगह कहा है, मरण प्रकृति है और जीवन विकृति। यह क्या है ?

कालिदास—यह दूसरी बात है, वहाँ प्रकृति का अर्थ वास्तविकता है। मृत्यु या मूलरूप लय है और जीवन लय का विकार। जैसे कुसुम बीज की विकृति है। महाराज चाहते हैं कि प्रभावती के विवाह के लिए एक नाटक लिखा जाय। मैं सोचता हूँ वह कैसा नाटक हो।

विलासवती—रस से छलछलाता हुआ, आनन्द से विभोर कर देनेवाला। और कैसा प्रियतम ? जिसमें झरने की तरह अजस्र गति से आनन्द वह निकले।

कालिदास—तुम्हारा रूप मैं उसमें दूँगा विलासवती, तुम्हारे रूप की मादकता उसमें होगी, तुम्हारे हृदय की विशालता उसमें चमकेगी। दर्शक और पाठक कह उठेंगे कि साक्षात् तुम्हीं उसमें

प्रमुख पात्र हो।

विलासवती—(प्रसन्न होकर) किन्तु मैं तुम्हारे बिना उसमें कब चमक सकूँगी कवि ?

(कालिदास एकदम किसी बात का ध्यान आते ही चुप हो जाते हैं। विलासवती उनको उस रूप में देखकर बोलना बन्द कर देती है। कवि लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। लिखते रहते हैं। विलासवती पङ्खा करती है और उनकी ओर देखती रहती है।)

४

(महाराज चन्द्रगुप्त का प्रासाद। उस दिन विशेष रूप से सुसज्जित। रात्रि का समय। मखमली कालीनों और स्थूलोपधानों से युक्त। प्रत्येक व्यक्ति के आसन बने हुए हैं। बीच में महाराज का पादपीठ, उसके वामभाग में महाराज्ञी ध्रुवदेवी का आसन। तदनुसार कुबेरनागा उनकी दूसरी पत्नी का स्थान। दायीं ओर कालिदास तथा अन्य लोगों के बैठने की जगह। सामने वादित्रों के साथ विलासवती के बैठने की जगह। प्रासाद में मणिचषकों में दीप जल रहे हैं। कुछ में अगुरुगंध, कस्तूरी की वत्तियाँ जल रही हैं। धीरे-धीरे वादित्रकों के साथ विलासवती आती है। उसके बाद राजामात्य तथा अन्य कवि। प्रभावती कन्या कुबेरनागा के साथ। फिर ध्रुवदेवी जय घोष के साथ पधारती हैं। ध्रुवदेवी तथा कुबेरनागा के हाथ में नील कमल, केशपाश में बाल कुन्द, मुख पर लोध्र-पुष्प का चूर्ण, जूड़ों में कुरबक पुष्प, कानों में शिरीष लगे हुए हैं। एक परिचारिका

कुमारगुप्त को लिये उनके पीछे आती है। दो परिचारिकाएँ व्यजन करती हुई पीछे चलती हैं। धीरे-धीरे सब लोग आकर बैठ जाते हैं। केवल महाराज और कालिदास का स्थान रिक्त है।)

राजामात्य—कविवर नहीं आये, क्या कारण है? महाराज आया ही चाहते हैं।

धन्वन्तरि—कवि, आज सर्वथा स्वस्थ हैं, अब तक आ तो जाना चाहिए।

विलासवती—वे आ रहे होंगे, महामन्त्रिन्।

ध्रुवदेवी—विलासवती, तुम कविवर की प्रेमपात्री हो। आज कवि जिस ग्रन्थ को भेंट करना चाहते हैं, उसके उपलक्ष में तुम्हारा नृत्य ही उपयुक्त होता इसलिए महाराज से आग्रह करके मैंने तुम्हें बुलाया है।

गणदास—विलासवती कहीं भी नृत्य नहीं करती, केवल महादेव के सामने ही ये करती हैं, किन्तु महाराज के आग्रह से ही इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग की है महाराज्ञी। ये देवदासी हैं।

ध्रुवदेवी—राजा भी तो देवता होता है, गणदास।

हरदत्त—मेरी शिष्या माधवी भी देवपाद में ही नृत्य करती थी किन्तु महाराज ने उसकी नृत्यकला को सर्वप्रथम स्थान दिया, इसलिए उसने महाराज के सम्मुख नृत्य करना स्वीकार किया। वह भी ऐसी वैसी नहीं है।

गणदास—यह सब अप्रासङ्गिक वार्तालाप है हरदत्त, माधवी का इस समय यहाँ क्या काम?

हरदत्त—यदि यह आज अस्वस्थ न होती तो विलासवती

की आवश्यकता भी नहीं थी, गणदास।

ध्रुवदेवी—नहीं-नहीं मेरे विशेष अनुरोध से ही विलासवती को सादर आमन्त्रित किया गया है।

राजामात्य—[अपने श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए] महाराज्ञी यथार्थ कहती हैं, हरदत्त।

[जय-घोष के साथ महाराज आते हैं। सब खड़े हो जाते हैं। चन्द्रगुप्त बैठते हैं]

चन्द्रगुप्त—कालिदास नहीं आये?

राजामात्य—महाप्रभु, आ रहे हैं।

[महाराज के सङ्केत से विलासवती नृत्य करती है, इसी समय कालिदास आ जाते हैं। घुँघरू बजते ही सब व्यक्ति सतर्क हो उठते हैं—पुष्पोद्गम नृत्य-ध्वनि]

छम छम छम छम—
छनन, छनन, छन—छम, छम, छम।
झूम, झूम; झूम, झूम, भूमि चूम, नभ चूम,
गीत छम, स्वर छम, लय छम, ताल छम,
मूर्छना-विमूर्छनाप्ररोह-अवरोह छम,
गति यति छम छम, ध्वनि छम, छम, छम,
पवन भी गई जम, हृदय की गति थम,
विरति में छम, छम, छम, रति-यति, छम।

(ताण्डव का मेघ के उद्गम के साथ नृत्य)

शिव के डमरू सम, मेघ की गरज गम,
डम डम डम डम गमक गमक गम,

छम, छम, छम, छम, छम, छम,
छनन, छनन, छन, छम छम छम ।

(इसकी पुनरावृत्ति होती है। मदोन्मत से सब पारिषद धन्य-धन्य कह उठते हैं। नृत्य समाप्त होता है, सभा निस्तब्धता छा जाती है। बहुत देर बाद।)

चन्द्रगुप्त—धन्य है, विलासवती धन्य है। ऐसा नृत्य तो आज तक नहीं देखा।

ध्रुवदेवी—साक्षात् शिव ताण्डव ! मेघ भी घिर आये, बिजली भी चमकने लगी।

(एक एक करके महाराज, महाराज्ञी तथा राज्ञी कुबेरनागा अपना रत्नहार विलासवती को भेंट करती हैं)

चन्द्रगुप्त—कविवर, ग्रंथ तो समाप्त हो गया न ?

कालिदास—(उदास होकर) आगे की कथा नहीं लिख सकता, देव !

चन्द्रगुप्त—क्यों ?

कालिदास—सम्भव नहीं है, लेखनी मूक हो गई है, यत्न करके भी नहीं लिख पाया।

चन्द्रगुप्त—कारण ?

कालीदास—कारण मैं स्वयं नहीं जानता। लिखने बैठता हूँ तो लेखनी रुक जाती है।

ध्रुवदेवी—यत्न करो कविवर, मेरे पुत्र को दिया जानेवाला ग्रन्थ पूर्ण होना ही चाहिए।

कालिदास—इस ग्रन्थ की अपूर्णता ही पूर्णता है। विश्वास

कीजिये, कुमारसम्भव इससे आगे नहीं लिखा जा सकता।

चन्द्रगुप्त—आश्चर्य है इतना सुन्दर काव्य और पूर्ण न हुआ!

ध्रुवदेवी—कविवर, आप कवि हैं। कवि भूत भविष्यत, वर्तमान का द्रष्टा होता है। क्या कारण है जो आप इसे पूर्ण नहीं कर सके?

चन्द्रगुप्त—विश्वास नहीं होता जो आप चाहें वह न हो। आपके सङ्केतों पर राज्यों में परिवर्तन, प्रजा में नया विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है।

ध्रुवदेवी—तो क्या कारण है?

कालिदास—कारण, कारण कवि स्वयं नहीं जानता।

ध्रुवदेवी—मेरी प्रार्थना है काव्य पूरा कीजिये। अपूर्ण काव्य मेरे कुमार का अपमान है।

कालिदास—मानापमान मैं कुछ नहीं जानता। कविता प्रेरणा है, न जाने क्यों मेरी प्रेरणा कुण्ठित हो गई है। मुझे ज्ञात हो गया इस काव्य का आगे लिखा जाना असम्भव है।

ध्रुवदेवी—तो मानना होगा आपका कवित्व समाप्त हो गया?

चन्द्रगुप्त—नहीं, ऐसा मत कहो। रघुवंश लिखा जा रहा है। उसकी गति में कोई व्यवधान नहीं है।

कालिदास—हाँ, रघुवंश लिखने की प्रेरणा बराबर बढ़ रही है जब-जब कुमार सम्भव लिखने बैठा तभी रघुवंश के छन्द, कथा लिख जाता रहा हूँ। लीजिये यह आपकी भेंट है।

ध्रुवदेवी—अपूर्ण ग्रन्थ मैं स्वीकार नहीं कर सकती। (**अचानक बालक रोने लगता है।**) मैंने बड़े आग्रह के साथ आपसे प्रार्थना

की थी, किन्तु आपने उसे ठुकरा दिया, कविवर !

कालिदास– (दृढ़ता से)देवि, मैं विवश हूँ। कवि की भाषा इस काव्य के सम्बन्ध में मूक हो गई। (कालिदास का स्वर दृढ़, नेत्रों से ज्योति फुल्लिंग निकलते हैं, कभी वे नेत्र बन्द कर लेते हैं)।

ध्रुवदेवी—तो रहने दीजिये मुझे यह स्वीकार नहीं है, कविवर। (इतना कहते हो बालक वेग से रोने लगता है। ध्रुवदेवी की परिचारिका के चुप कराने तथा पुचकारने पर भी बालक गला फाड़-फाड़कर रोता ही रहता है। ध्रुवदेवी परिचारिका के साथ बालक को लेकर चली जाती हैं, बालक के रोने की आवाज आती रहती है। ध्रुव-देवी फिर लौट आती हैं।) न जाने कुमार को क्या हो गया ?

वराहमिहिर—देवि, हमको कवि का ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा। इसी में बालक का कल्याण है।

ध्रुवदेवी—(चुप)

कुबेरनागा—महारानी, सरस्वती का, कवि का अपमान मत कीजिये। (बालक के रोने की ध्वनि) परिचारिका !

परिचारिका – देवि, विधाता की इच्छा है कि ग्रन्थ को अस्वी-कार न किया जाय। (कालिदास जाने लगते हैं) ठहरिये कविवर, इसमें आपका दोष नहीं है।

परिचारिका—महारानी, बालक असंज्ञ हो रहा है (ध्रुवदेवी चली जाती है)

वराहमिहिर—महाराज (पास जाकर) यदि यह ग्रन्थ कुमार को भेंट न किया गया तो अनर्थ हो जायगा। कवि का नहीं, भग-वती सरस्वती का अपमान है।

राजामात्य—महाराज, आपने तो स्वप्न देखा था, यह उसी का प्रभाव है। नारद स्वयं कह गये थे कि काव्य के पूर्ण होने की सम्भावना कम है।

वराहमिहिर—यदि सरस्वती रूठ जातीं तो रघुवंश भी अपूर्ण रहना चाहिये। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। कालिदास झूठ नहीं कहते। महाराज इसी में साम्राज्य का कल्याण है कि ग्रन्थ कुमार को भेंट किया जाय।

चन्द्रगुप्त—वराहमिहिर मैं क्या करूँ। महारानी नहीं चाहतीं।

वराहमिहिर—महारानी को चाहना होगा। बालक उस समय तक रोना बन्द नहीं करेगा जब तक ग्रन्थ उसे भेंट नहीं किया जायगा। (रोने की ध्वनि आती है)

चन्द्रगुप्त—बड़ा आश्चर्य है, वराहमिहिर !

राजामात्य—बड़ा आश्चर्य है, महाप्रभु। (कालिदास जाने लगते हैं)

चन्द्रगुप्त—ठहरिये, कविवर। (बालक को लिये हुए ध्रुवदेवी आती हैं)

ध्रुवदेवी—महाराज, न जाने कुमार को क्या हो गया !

चन्द्रगुप्त—देवी, हमको यह ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा, इसी में बालक का कल्याण है।

(ध्रुवदेवी चुप रहती हैं)

कुवेरनागा—महारानी, इस तरह कवि का अपमान मत कीजिये, चलिये।

ध्रुवदेवी—(पास जाकर) कविवर, मैं आपका ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार करती हूँ।

चन्द्रगुप्त—यही उचित है, देवी।

(ग्रन्थ लेकर आगे बढ़ते ही बालक चुप हो जाता है। कवि बालक को ग्रन्थ स्पर्श कराकर ध्रुवदेवी को भेंट करते हैं। आकाश में मेघ गरजने लगते हैं, बिजली कड़कती है। कालिदास ग्रन्थ भेंट करते हुए नेत्र बन्द करके कहते हैं—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न च किंचन विद्यते
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।

ध्रुवदेवी बालक को गोद में लेकर ग्रन्थ स्वीकार करती हैं। चन्द्रगुप्त सिर झुकाये खड़े हो जाते हैं। जयघोष होता है, कविवर कालिदास की जय।)

———

मान-मन्दिर

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

पात्र

महाराणा लाखा	...	चित्तौड़ के महाराजा
राव हेमू	...	बूँदी के महाराजा
वीरसिंह	...	मेवाड़-वासी एक हाड़ा सेनाध्यक्ष
अभयसिंह	...	मेवाड़ी सेनापति
चारणी	...	राजपूत वीरों के यश गाने वाली गायिका

मान-मन्दिर

पहला दृश्य

[स्थान—बूँदी-गढ़ । बूँदी के राव हेमू अपने कमरे में मेवाड़ के सेनापति अभयसिंह से बात-चीत कर रहे हैं ।]

अभयसिंह—राव साहब ! सीसोदिया वंश हाड़ाओं को आदर और स्नेह की दृष्टि से देखता है ।

राव हेमू—तो फिर आप बूँदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कराने की आज्ञा लेकर क्यों आये हैं ?

अभयसिंह—राव साहब, हम राजपूतों की छिन्न-भिन्न असङ्गठित शक्ति विदेशियों से किस प्रकार सामना कर सकती हैं ? आप तो जानते ही हैं कि जबतक पश्चिम से आनेवाले आक्रमणकारियों को भारत के सभी राजाओं की सम्मिलित और सङ्गठित शक्ति का सामना करना पड़ा तबतक इस देश का मान नहीं घटा, लेकिन जैसे ही पृथ्वीराज और जयचन्द ने देश की शक्ति को तीन-तेरह कर दिया वैसे ही इस गौरवशाली देश का गौरव अस्त हो गया ! राव साहब, इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपनी शक्ति एक केन्द्र के अधीन रखें ।

राव हेमू—और वह केन्द्र है चित्तौड़ !

अभयसिंह—इसमें भी कोई सन्देह है, राव साहब ! यद्यपि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का विध्वंस कर दिया था, किन्तु वह विध्वंस भी कितना गौरवमय था ! महारानी पद्मिनी का

जौहर-व्रत और मेवाड़ियों का वह अभूत-पूर्व बलिदान क्या भुलाया जा सकता है ? वह वंश कितने दिन पूर्वजों के रक्त से सिंची भूमि से वञ्चित रहता ! उसमें महाराणा हमीर जैसे प्रतापी वीर पैदा हुए। चित्तौड़ का गत गौरव फिर लौटा है। जो राजवंश पहले मेवाड़ के अनुगत थे, महाराणा लाखा चाहते हैं, आज भी उसी तरह रहें। बीच की अव्यवस्था से लाभ उठाकर जो राजा और जागीरदार मेवाड़ी झण्डे के नीचे से हट गये हैं, उन्हें उसी के नीचे आना चाहिए। बूँदी राज्य भी सदा से मेवाड़ के आश्रित...

राव हेमू—बूँदी राज्य सदा से मेवाड़ के आश्रित ! यह तुम क्या कहते हो अभयसिंहजी ! स्वर्गीय महाराजा पृथ्वीराज के वंशजों को गहलौत राजपूत अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। अभयसिंहजी, किस महाराणा ने हमारे पूर्वजों को बूँदी का पट्टा दिया था ?

अभयसिंह—पट्टा तो शायद नहीं दिया, लेकिन आप बता सकते हैं कि उन्होंने कैसे इस पठार पर अपना अधिकार जमाया है ?

राव हेमू—हमारे कुल-गौरव स्वर्गीय देवसिंह की तीखी तलवार ने इस पर्वत-माला पर बसनेवाले मीनों और भीलों को अपने काबू में करके उनसे इस देश को छीना है। मेवाड़ के सेनापति ! मेवाड़ के पट्टे ने नहीं प्रलयङ्कर शङ्कर के अवतार देवसिंह हाड़ा के पुरुषार्थ ने हाड़ा वंश को इस भूमि का स्वामी बनाया है। हाड़ा-वंश किसी की गुलामी स्वीकार नहीं करेगा। चाहे, वह विदेशी शक्ति हो, चाहे वह मेवाड़ का महाराणा हो।

अभयसिंह—किन्तु, क्या आज तक हाड़ा राव, दशहरे और होली के उत्सवों में चित्तौड़ जाकर महाराणा के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति के फूल नहीं चढ़ाते रहे ?

राव हेमू—केवल श्रद्धा और भक्ति के फूल ही नहीं मेवाड़ की मान-रक्षा में अपने लोहू का अर्घ्य भी चढ़ाते रहे हैं, प्राणों की बलि भी देते रहे हैं।

अभयसिंह—तो आज आपको महाराणा की अधीनता स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है ?

राव हेमू—वह था एक वीर राजपूत का दूसरे राजपूत के प्रति स्नेह का आदान-प्रदान। मेवाड़ के सीसोदिया वंश के प्रति बूँदी के चौहानवंशीय हाड़ाओं का प्रेम-भाव अस्वाभाविक नहीं है। पृथ्वीराज के भी पहले से सीसोदिया और चौहान देश और जाति की मान-रक्षा में रक्त का सङ्गम करते रहे हैं। दो वंशों की रक्त-धाराओं के सङ्गम ने नीच-ऊँच की भावनाओं को नष्ट कर दिया था। आज महाराणा न जाने किसके बहकाने में आकर एक बेसुरी तान अलापने लगे हैं। सेनापति, आप समझदार हैं, महाराणा को समझाइए !

अभयसिंह— समझाऊँ तो तब, जब स्वयं समझूँ ! मैं तो यह जानता हूँ कि राजपूतों को एक सूत्र में गूँथे जाने की बड़ी आवश्यकता है और जो व्यक्ति यह माला तैयार करने की ताकत रखता है, वह है महाराणा लाखा !

राव हेमू—ताकत की बात न छेड़ो, अभयसिंह ! प्रत्येक राजपूत को अपनी ताकत पर नाज है। इतने बड़े दम्भ को मेवाड़

अपने प्राणों में आश्रय न दे, इसी में उसका कल्याण है। रह गयी बात एक माला में गूँथने की, सो वह माला तो बनी हुई है, यह मेवाड़ का दृष्टि-दोष है कि वह उसे देख नहीं पा रहा। हाँ, उस माला को तोड़ने का श्रीगणेश अब हो गया है।

अभयसिंह—तो मेरा यहाँ तक आना व्यर्थ हुआ! आप महाराणा लाखा की आज्ञा को...

राव हेमू—आज्ञा? हाड़ा आज्ञा के नाम से चिढ़ता है!

अभयसिंह—किंतु अनुशासन का अभाव हमारे देश के टुकड़े किये हुए है।

राव हेमू—प्रेम का अनुशासन मानने को हाड़ा वंश सदा तैयार है, शक्ति का नहीं। मेवाड़ के महाराणा की यदि अपने ही जाति-भाइयों पर अपनी तलवार आजमाने की इच्छा हुई है तो उससे उन्हें कोई नहीं रोक सकता। बूँदी स्वतन्त्र राज्य है और स्वतन्त्र रहकर वह महाराणाओं का आदर करता रह सकता है। अधीन होकर किसी की सेवा करना वह पसन्द नहीं करता!

[नेपथ्य में गान]

कभी न अपनी आन गवाना।
तुम हो अग्नि-पुत्र अभिमानी,
हृदय तुम्हारा है तूफ़ानी,
तुमने भय से हार न मानी,
कभी न जाना शीश झुकाना।
कभी न अपनी आन गँवाना!
पाली है प्राणों में ज्वाला,

राजपूत रण-मद-मतवाला,
कब बन्धन में बँधनेवाला !
चाहे अपनी जान गँवाना।
कभी न अपनी आन गँवाना !
गौरव-हीन न जीवन जीना,
चाहे पड़े गरल भी पीना,
चाहे चलनी होवे सीना,
पर न दासता को अपनाना।
कभी न अपनी आन गँवाना !

राव हेमू—सुनते हो अभयसिंह ! कोई क्या गा रहा है ? यह है राजपूत के जीवन का मन्त्र। आप मेवाड़ियों को यह बात नये सिरे से समझाने न होगी। आप महाराणा को समझावें कि जिस धातु से मेवाड़ियों की तलवार बनी है उसी से बूँदी के हाड़ाओं की भी।

अभयसिंह—यह देश का दुर्भाग्य है कि...

[गाते-गाते चारणी का प्रवेश]

चारणी—रुक क्यों गये मेवाड़ के सेनापति ! क्या कहते हैं मैं भी सूनूँ !

अभयसिंह—ये राजनीतिक बातें हैं, चारणी ! तुम अपना गीत गाये जाओ, राजपूतों के हृदयों में आग लगाये जाओ, इस राजनीति के चक्कर तुम्हारी सीमा के बाहर हैं।

चारणी—राजनीति ! हः हः हः ! वह हमारी सीमा के बाहर है। वह केवल राजाओं की है। वह दिन आवेगा सेनापति, जब

राजनीति का उदय साधारण जनता में से होगा। मैंने सुना था, मेवाड़ के सेनापति यहाँ आये हैं, इसीलिए दर्शन करने चली आयी थी और यह जानने भी कि इस समय जब कि देश का वातावरण शान्त है दो राज-शक्तियों में क्या अभिसन्धि हो रही है!

राव हेमू—कुछ नहीं देवि, बड़े मगर छोटों को हजम कर जाना चाहते हैं। चारणी, तुम जो गीत गा रही थी, उसमें राजपूत के जीवन का मूल-मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहा था। तुम्हारे इस गीत को सार्थक करने का समय मानो आरहा है। चारणी, तुम हाड़ाओं के प्राणों की आग सुलगाओ।

चारणी—किन्तु मेरे लिए तो हाड़ा और गहलौत दोनों बराबर हैं।

राव हेमू—फिर न्याय और अन्याय तो देखना होता है। आज मेवाड़ का बूँदी पर कोप हुआ है। राजपूत की तलवार राजपूत के ही खून की प्यासी हुई है।

चारणी—सर्वनाश! महाकाल की जो मर्जी। यह भयङ्कर दुर्घटना भी कल्याणकारी सिद्ध हो। [प्रस्थान]

अभयसिंह—तो मैं जाऊँ!

राव हेमू—आपकी इच्छा

[दोनों का दो तरफ प्रस्थान]

पट-परिवर्तन

दूसरा-दृश्य

[स्थान–चित्तौड़ का राजमहल। महाराणा लाखा बहुत चिन्तित और व्यथित अवस्था में कमरे में टहल रहे हैं।]

लाखा—मेवाड़ के गौरवपूर्ण इतिहास में मैंने कलङ्क का टीका लगाया है। यह बात नहीं कि सीसौदिया वंशीय ने कभी पराजय का मुख देखा ही नहीं, लेकिन उनकी पराजय भी विजय से अधिक उज्ज्वल होती रही है। अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय की घटना इस बात का प्रबल प्रमाण है। किन्तु इस बार मुट्ठी भर हाड़ाओं ने हम लोगों को जिस प्रकार पराजित और विफल किया उससे मेवाड़ के आत्म-गौरव को कितनी ठेस पहुँची है, यह मेरा ही अन्तःकरण जानता है।

[अभयसिंह का प्रवेश और महाराणा को अभिवादन करना]

अभयसिंह—महाराणाजी, दरबार के सभासद आपके दर्शन पाने को उत्सुक हैं।

महाराणा—सेनापति अभयसिंहजी, आज मैं दरबार में नहीं जाऊँगा, आप जानते हैं कि जबसे हमें नीमेरा के मैदान में बूँदी के राव हेमू से पराजित होकर भाग आना पड़ा मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है। बाप्पा रावल और वीरवर हमीर का रक्त जिसकी धमनियों में बह रहा हो वह प्राणों के भय से रण-क्षेत्र से भाग आये, यह कितने कलङ्क की बात है!

अभयसिंह—किन्तु, जरा-सी बात के लिए आप इतना अनुताप क्यों करते हैं, महाराणा? हाड़ाओं ने रात के समय

अचानक हमारे शिविर पर आक्रमण कर दिया। उस आकस्मिक धावे से घबराकर हमारे सैनिक भाग खड़े हुए। आप तो तब भी प्राणों पर खेलकर राव हेमू से लोहा लेना चाहते थे, किन्तु हमीं लोग आपको वहाँ से खींच लाये। इसमें आपका क्या अपराध है और इसमें मेवाड़ के गौरव में कमी आने का कौन-सा कारण है?

महाराणा—जिनकी खाल मोटी होती है, उनके लिए किसी भी बात में कोई भी अपयश, कलङ्क या अपमान का कारण नहीं होता। किन्तु जो आन को प्राणों से बढ़कर समझते आये हैं, जिनका इतिहास पुकार पुकारकर कह रहा है कि अपमान भरे युग से आत्म-सम्मान-पूर्ण क्षण अधिक श्रेयस्कर है; जिनकी पचीस पचीस हजार महिलाएं देश और जाति की मान-रक्षा के लिए एक बारगी जौहर की ज्वाला में जलकर मरण को अमर कर गयी हैं, पराजय का मुख देखकर भी जीवित रहें यह कैसा उपहासजनक बात है। सुनो, अभयसिंहजी! मैं अपने मस्तक से इस कलंक के टीके को धो डालना चाहता हूँ।

अभयसिंह—मेवाड़ के सैनिक आपकी आज्ञा पर अपने प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत हैं।

महाराणा—उनके पुरुषार्थ की परीक्षा का दिन आ पहुँचा है। मैं महारावल बाप्पा का वंशज प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक बूँदी के दुर्ग में ससैन्य प्रवेश नहीं करूँगा, अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा। बूँदी के दुर्ग पर जब तक मेवाड़ की पताका नहीं फहरायेगी तब तक पानी की एक बूँद भी गले के नीचे उतारना मेरे

लिए गोहत्या का पाप करने के समान है।

अभयसिंह—महाराणा! छोटे से बूँदी दुर्ग को विजय करने के लिए इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करने की क्या आवश्यकता है? बूँदी को उसकी धृष्टता के लिए दण्ड तो दिया ही जायेगा, लेकिन हाड़ा लोग कितने वीर हैं, चौहानों का इतिहास उनके प्राणों को उत्तेजित करता रहता है, युद्ध करने में यम से भी वे नहीं डरते। वे यद्यपि संख्या में कम हैं, किन्तु अपने पहाड़ी प्रदेश में खूब सुरक्षित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय हमारी होगी, किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितने दिन लग जायेंगे। इसलिए ऐसी भीषण प्रतिज्ञा आप न करें। सम्पूर्ण मेवाड़ आप के इशारे पर मरने जीने के लिए प्रस्तुत है। आपके प्राणों का मूल्य उसे स्वर्ग-सिंहासन से भी अधिक है, कुबेर के धन से भी ज्यादा है। आपकी इस प्रतिज्ञा की बात सुनकर सब जगह अशान्ति के बादल छा जायेंगे और दो राजपूत वंशों में जो भयंकर वैमनस्य की ज्वाला जल उठेगी वह बुझाए न बुझेगी और उसका लाभ उठायेंगे विदेशी लोग, भारतीय सभ्यता के शत्रु! इसलिए आप से मेरा नम्र निवेदन है कि आप मेवाड़ पर दया करके, गहलोत वंश पर तरस खाकर, राजपूत जाति के हित-साधन के लिए और भारतीय स्वतन्त्रता की मङ्गल-कामना के लिए, अपनी इस कठोर प्रतिज्ञा को वापिस ले लें।

महाराणा—आप यह क्या कहते हैं, सेनापति, क्या कभी आपने सुना है सूर्यवंश में पैदा होने वाले पुरुष ने अपनी प्रतिज्ञा

को वापिस लिया है ? महाराज दशरथ का उदाहरण हम लोगों के सामने है। "प्राण जाँय, पर वचन न जाहीं" यह हमारे जीवन का मूल-मन्त्र है। जो तीर तरकस से निकलकर, कमान पर चढ़कर छूट गया उसे बीच से ही नहीं लौटाया जा सकता। मेरी प्रतिज्ञा कठिनाई से पूरी होगी, यह मैं जानता हूँ और इस बात की हाल के युद्ध में पुष्टि भी हो चुकी है कि हाड़ा जाति वीरता में हम लोगों की अपेक्षा किसी प्रकार हीन नहीं है, फिर भी महाराणा लाखा की प्रतिज्ञा वास्तव में प्रतिज्ञा है। वह पूर्ण होनी चाहिए।

[नेपथ्य में गान]

तोड़ मोतियों की मत माला।
ये सागर से रत्न निकाले,
युग-युग से हैं गये सँभाले।
इनसे दुनिया में उजियाला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
ये छाती में छेद कराकर,
एक हुए हैं हृदय मिलाकर,
इनमें व्यर्थ भेद क्यों डाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।
माँ का मान इसी माला से।
बच रे हृदय द्वेष-ज्वाला से।
करले पान प्रेम का प्याला।
तोड़ मोतियों की मत माला।

इनमें कोई नहीं बड़ा है।
विधि ने इनको स्वयं गढ़ा है।
तू क्यों बनता है मतवाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।

[गाते-गाते चारणी का प्रवेश]

महाराणा—तुम गा रही थीं, चारणी ? तुम सम्पूर्ण राजस्थान को एकता की शृङ्खला में बाँधकर देश की स्वाधीनता के लिए कुछ करने का आदेश दे रही थीं, किन्तु मैं तो उस शृङ्खला को तोड़ने जा रहा हूँ। दो आनवाली जातियों में जानी दुश्मनी पैदा करने जा रहा हूँ।

चारणी—आप यह क्या कहते हैं, महाराणा ? आपकी विवेकशीलता पर सबको विश्वास है। जिस दिन सेनापति अभयसिंह बूँदी के राव के पास मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने का सन्देशा लेकर पहुँचे थे, उसी दिन मैंने उन्हें सचेत किया था। उसके बाद जब मेवाड़ी सेना पराजित होकर लौट आयी तो मैंने समझ लिया कि मेवाड़ और बूँदी दोनों ही देशों पर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं। आज भी मैं आपसे अन्तिम अनुरोध करने आयी हूँ कि महाराणा समय के फेर से यद्यपि आज हाड़ा शक्ति और साधनों में मेवाड़ के उन्नत राज्य से छोटे हैं फिर भी वे वीर हैं ! मेवाड़ को उसके विपत्ति के दिनों में सहायता देते रहे हैं। यदि उनसे कोई धृष्टता बन पड़ी हो तो महाराणा उसे भूल जायें और राजपूत शक्तियों में स्नेह का सम्बन्ध बना रहने दें।

महाराणा—चारणी ! तुम बहुत देर से आयीं !

अभयसिंह—चारणी ! महाराणा ने प्रतिज्ञा की है कि जब तक बूंदी के गढ़ को जीत न लेंगे वह अन्न-जल ग्रहण न करेंगे।

चारणी—दुर्भाग्य ! (कुछ सोचकर) महाराणा मैं ऐसा नहीं होने दूंगी। देश का कोई भी शुभचिन्तक इस विद्वेष की आग को फैलने देना पसन्द नहीं कर सकता।

अभयसिंह—किन्तु ! महाराणा की प्रतिज्ञा तो पूरी होनी ही चाहिए।

चारणी—उसका एक ही उपाय है वह यह कि यहीं पर एक मिट्टी का नकली बूँदी का दुर्ग बनाया जाये ! महाराणा उसका विध्वंस करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी करलें—महाराणा क्या आप को मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ?

महाराणा—अच्छा, अभी तो मैं नकली दुर्ग बनवा कर उसका विध्वंस करके अपने व्रत का पालन करूँगा। किन्तु हाड़ओं को उनकी उद्दण्डता का दण्ड दिये बिना मेरे मन को सन्तोष न होगा, सेनापति ! नकली दुर्ग बनवाने का प्रबन्ध करो।

[सबका प्रस्थान]

पट-परिवर्तन

तीसरा दृश्य

[चित्तौर के निकट एक जंगली प्रदेश में नकली दुर्ग का मुख्य दरवाजा। महाराजा लाखा और सेनापति अभयसिंह का प्रवेश।]

अभयसिंह—आपने दुर्ग का निरीक्षण कर लिया। ठीक बन गया है न ?

महाराणा—क्यों न बनता ! निस्सन्देह यह ठीक बूँदी-दुर्ग की हू-बहू नकल है। अच्छा अब इसपर चढ़ाई करने का खेल खेला जाये। इस मिट्टी के दुर्ग को मिट्टी में मिलाने से मेरी आत्मा को सन्तोष तो नहीं होगा, लेकिन अपमान की वेदना में, दर्प की तरङ्ग में, प्रतिहिंसा के आवेग में, जो विवेक-हीन प्रतिज्ञा मैंने कर डाली थी उससे छुटकारा तो मिल ही जायेगा। उसके बाद फिर ठण्डे दिमाग से सोचना होगा कि बूँदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने के लिए किस तरह बाध्य किया जाये ! आज तक ऐसा नहीं हुआ कि मेवाड़ के महाराणाओं की मनोकामनाएँ पूरी हुए बिना रह गयी हों।

अभयसिंह—निश्चय ही ! महाराज शीघ्र ही बूँदी के पठारों पर सीसोदियों का सिंहनाद होगा। अच्छा अब हमलोग आज के रण की तैयारी करें।

महाराणा—किन्तु यह रण होगा किससे ? इस दुर्ग में कोई तो हमारा पथ-प्रतिरोध करने वाला होना चाहिए।

अभयसिंह—हाँ, खेल में भी कुछ तो वास्तविकता आनी चाहिए। मैंने सोचा है दुर्ग के भीतर अपने ही कुछ सैनिक रख दिये जायेंगे जो बन्दूकों से हम लोगों पर छूछे वार करेंगे। कुछ घण्टों ऐसा ही खेल होगा और वह मिट्टी का दुर्ग मिट्टी में मिला दिया जायेगा। अच्छा, अब हम चलें।

[दोनों का प्रस्थान और वीरसिंह का कुछ साथियों के साथ प्रवेश]

वीरसिंह—मेरे बहादुर साथियो, तुम देख रहे हो कि हमारे सामने यह कौनसी इमारत बनायी गयी है ?

पहला साथी—हाँ, सरदार यह हमारी जन्मभूमि बूँदी का दुर्ग है।

वीरसिंह—और तुम जानते हो कि महाराणा आज इस गढ़ को जीत कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। किन्तु, क्या हम लोग अपनी जन्मभूमि का अपमान होने देंगे ? यह हमारे वंश के मान का मन्दिर है। क्या हम इसे मिट्टी में मिलने देंगे ?

दूसरा साथी—किन्तु यह तो नकली बूँदी है।

वीरसिंह—धिक्कार है तुम्हें ? नकली बूँदी भी हमें प्राणों से अधिक प्रिय है। महाराणा ने सोचा होगा, यहाँ से बूँदी साठ कोस दूर है। बूँदी के राव को उनके इस अपमान का पता भी नहीं लग पायेगा। सीसोदिया सैनिक खिलौने की तरह इस मिट्टी के गढ़ को मिट्टी में मिला देंगे। किन्तु जिस जगह एक भी हाड़ा है वहाँ बूँदी का अपमान आसानी से नहीं किया जा सकता। आज महाराणा आश्चर्य के साथ देखेंगे कि यह खेल केवल खेल नहीं रहेगा। यहाँ की चप्पा-चप्पा भूमि सीसोदियाओं और हाड़ाओं के खून से लाल हो जायगी।

तीसरा साथी—लेकिन सरदार, हम लोग महाराणा के नौकर हैं। क्या महाराणा के विरुद्ध तलवार उठाना हमारे लिए उचित है ? हमारा हाड़मांस महाराणा के नमक से बना है। हमें उनकी इच्छा में व्याघात क्यों पहुँचाना चाहिए।

वीरसिंह—और जिस जन्मभूमि की धूल में खेलकर हम बड़े हुए हैं उसका अपमान भी कैसे सहन किया जा सकता है ? हम महाराणा के नौकर हैं तो क्या हमने अपनी आत्मा भी उन्हें बेच

दी है ? जब कभी मेवाड़ स्वतन्त्रता पर आक्रमण हुआ है, हमारी तलवार ने उनके नमक का बदला दिया है। और जब तक इन हाथों में तलवार पकड़ने की शक्ति रहेगी वह मेवाड़ की मान-रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहेंगे, लेकिन जब मेवाड़ और बूँदी के मान का प्रश्न आयेगा हम चुपचाप मेवाड़ की दी हुई तलवारें महाराणा के चरणों पर रखकर विदा ले लेंगे और बूँदी की ओर से अपने प्राणों की बलि देंगे। आज ऐसा ही अवसर आ पड़ा है।

पहला साथी—निश्चय ही जहाँ पर बूँदी है वहाँ पर हाड़ा है और जहाँ पर हाड़ा है वहाँ पर बूँदी है। कोई नकली बूँदी का भी अपमान नहीं कर सकता। जन्मभूमि हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है। हाड़ा-वंश फौलाद से बना है। आज महाराणा को इन मिट्टी की दीवारों का सामना नहीं करना पड़ेगा, बल्कि हाड़ाओं की वज्र-देह का सामना करना पड़ेगा।

वीरसिंह—निश्चय ही। हम लोग संख्या में बहुत थोड़े हैं और हमारे पास तोपों का मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन भी नहीं हैं। हमारे पास केवल अपने प्राण हैं और उन प्राणों को जन्मभूमि की मान रक्षा के लिए चढ़ा देने की अदम्य चाह है। संसार देखेगा कि हम अग्नि की सन्तान अपने प्राणों में कितनी आग लिए हुए हैं। हम बुझते हुए दीपक की तरह भभक कर अन्धकार में मिल जायगे। हम बिजली की तरह कड़ककर, चमककर, आकाश का हृदय चीरते हुए पृथ्वी के अन्तस्तल में अपनी स्मृति की दरार को छोड़कर अन्तर्धान हो जायेंगे।

अच्छा ! अब अपनी जन्मभूमि को प्रणाम करो।

[सब दुर्ग के द्वार पर मस्तक झुकाते हैं।]

वीरसिंह—मेरे वीरो, तुम अग्नि-कुल के अङ्गारे हो। अपने वंश की आभा को क्षीण न होने देना। प्रतिज्ञा करो कि प्राणों के रहते हम इस नकली दुर्ग पर मेवाड़ की राज्य-पताका को स्थापित न होने देंगे।

सब लोग—हम प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणों के रहते इस दुर्ग पर मेवाड़ की ध्वजा न फहराने देंगे।

वीरसिंह—मुझे आप लोगों पर अभिमान है और बूँदी आप जैसे पुत्रों को पाकर फूली नहीं समाती। यह नकली बूँदी भी हमारे भावी बलिदान की कल्पना की आँखों से देख कर मुसकरा रहा है और जिस बूँदी में ऐसे मान के धनी पैदा होते हैं, उसपर संसार आशीर्वाद के फूल बरसा रहा है। चलो हम दुर्ग-रक्षा की तैयारी करें।

[सबका प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

चौथा दृश्य

[स्थान—नकली बूँदी-दुर्ग का बन्द द्वार। महाराणा लाखा और अभयसिंह का प्रवेश]

महाराणा—सूर्य डूबने को आया। नकली दुर्ग के आस-पास की भूमि वैसी ही लाल हो उठी है, जैसा कि आकाश का पश्चिमी छोर हो रहा है। यह कैसी लज्जा की बात है कि हमारी सेना

नकली बूँदी के दुर्ग पर अपना झण्डा स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी ! वीरसिंह और इसके मुट्ठी भर साथी अभी तक वीरतापूर्वक लड़ रहे हैं।

अभयसिंह—हाँ महाराणा, हम तो समझते थे कि घड़ी में यह खेल खत्म हो जायगा लेकिन हमें आशा के विरुद्ध छूँछे वीरों का मुकाबला करने के बजाय, हाड़ाओं के अचूक निशानों का सामना करना पड़ा। यद्यपि ये लोग गिनती में थोड़े हैं, किन्तु इन्होंने दीवारों की आड़ में उपयुक्त स्थान बनाकर हम पर गोली और तीर बरसाना प्रारम्भ कर दिया। हमारी सेना इन अयाचित, अचिन्तित और आकस्मिक प्रहारों से भौचक्की हो गयी ! अब दुर्ग के भीतर के हाड़ाओं की युद्धसामग्री समाप्त हो गयी। आप की प्रतीक्षा पूरी होने में कुछ ही क्षणों का विलम्ब है। दुर्ग की दीवारों में जहाँ-तहाँ छेद हो गये हैं और वे धराशायी होने की प्रतिक्षा कर रहे हैं।

महाराणा—यह भी अच्छा ही हुआ कि हमारे इस खेल में भी कुछ वास्तविकता आगयी। यदि हमें बिना कुछ पराक्रम दिखाये ही दुर्ग पर अपना झण्डा फहराने का अवसर मिल जाता, तो मुझे जरा भी सन्तोष न होता और सच पूछें तो वीरसिंह की वीरता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता था, ऐसे वीर के प्राणों की किसी प्रकार रक्षा हो सकती।

अभयसिंह—मैंने भी जब दुर्ग से अग्नि-वर्षा होते देखी तब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था और कुछ क्षणों के लिए सफेद झण्डी फहरा कर युद्ध को रोक दिया था। उसके पश्चात् मैं स्वयं दुर्ग में

गया और वीरसिंह की उसके साहस के लिए प्रशंसा की। साथ ही उससे अनुरोध किया कि तुम इस व्यर्थ प्रयास में अपने प्राण न खोओ। तुम महाराणा के नौकर हो, तुम्हें उनके विरुद्ध हथियार न उठाना चाहिए। किन्तु उसने उत्तर दिया कि महाराणा ने हाड़ाओं को चुनौती दी है। हम उस चुनौती का उत्तर देने को मजबूर हैं या तो जन्मभूमि और कुल के मान की रक्षा में प्राणों की बलि हमें दे देनी होगी, या महाराणा को इस विवेकहीन प्रतिज्ञा से विमुख होना पड़ेगा। अब तीसरा कोई रास्ता नहीं, महाराणा यदि हमारे प्राण लेना चाहते हैं तो खुशी से लेलें। लेकिन हम इतने कायर, निर्लज्ज और निष्प्राण नहीं हैं कि अपनी आँखों से बूंदी का अपमान होते हुए देखें। मेवाड़ में जब तक एक भी हाड़ा है, नकली बूंदी पर भी बूँदी की ही पताका फहरायेगी।

महाराणा—निश्चय ही इन वीरों का जन्मभूमि के प्रति आदरभाव सराहनीय है। यह मैं जनता हूँ कि इन लोगों के प्राणों की रक्षा करने का कोई उपाय नहीं। इतने बहुमूल्य प्राण लेकर भी मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी पड़ेगी। वह देखो, दुर्ग की उस दरार में खड़ा हुआ वीरसिंह कितनी फुर्ती से बाण-वर्षा कर रहा है। अकेला ही हमारे सैकड़ों सैनिकों की टोली को आगे बढ़ने से रोके हुए है! धन्य हैं ऐसे वीर! धन्य है वह माँ जिसने ऐसे वीर पुत्र को जन्म किया। धन्य है वह भूमि जहाँ पर ऐसे सिंह पैदा होते हैं।

[नेपथ्य में गान]

वह देखो नभ मुसकाता है।

चले गये माँ के दीवाने,
स्वर्ग-लोक में राज्य जमाने,
जग गाता है उसके गाने—
जो निज शीश चढ़ाता है,
वह देखो नभ मुसकाता है।

जिसकी तलवारों का पानी—
लिखता है उन्मत्त कहानी,
उसकी होती अमर जवानी—
जो माँ पर मिट जाता है।
वह देखो नभ मुसकाता है।

चले गये जिसको था जाना,
लगा हुआ है आना-जाना,
पर जाना भी अमर बनाना,
बिरला हो सिखलाता है,।
वह देखो नभ मुसकाता है।

[जोर का धमाका और प्रकाश होता है]

महाराणा—वह देखो अभयसिंह, गोले के वार से वीरसिंह के प्राण-पखेरू उड़ गये। बूँदी के मतवाले सिपाही सदा के लिए सो गये। अब हम विजय-श्री प्राप्त कर सके। जाओ, दुर्ग पर मेवाड़ की पताका फहराओ और वीरसिंह के शव को आदर के साथ यहाँ पहुँचाओ।

[अभयसिंह का प्रस्थान]

महाराणा—आज इस विजय में मेरी सब से बड़ी पराजय छिपी हुई है, व्यर्थ के दम्भ ने आज कितने ही निर्दोष प्राणों की बलि ले ली।

[गाते-गाते चारणी का प्रवेश]

चारणी—देखो वह नभ मुसकाता है। महाराणा! अब तो आपकी आत्मा को शान्ति मिल गयी होगी। अब तो आपने अपने सर से कलङ्क का टीका धो लिया। वह देखो बूँदी के दुर्ग पर मेवाड़ के सेनापति विजय-पताका फहरा रहे हैं। वह सुनिये, मेवाड़ की सेना में विजय-दुन्दुभी बज रही है।

महाराणा—चारणी! क्यों इस पश्चात्ताप से विकल प्राणों को तुम और दुखी करती हो? न जाने किस बुरी साइत में मैंने बूँदा को अपने अधीन करने का निश्चय किया था और अपने उस निश्चय को वहा क्यों न समाप्त कर दिया जहाँ पर मेवाड़ी सेना बूँदा की सेना से पराजित होकर वापस लौट आया थी। वीरसिंह की वीरता ने मेरे हृदय के द्वार खोल दिये हैं, मेरी आँखों का पर्दा हटा दिया है। मैं देखता हूँ ऐसा वीर जाति को अधीन करने की अभिलाषा करना पागलपन है। वैसा ही पागलपन जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी को मेवाड़ियों को अपना गुलाम बनाने की लालसा में था।

चारणी—तो क्या महाराणा, इस नकली दुर्ग की आश्चर्य-जनक अभूतपूर्व स्वर्ण-घटना के बाद भी मेवाड़ और बूँदा के हृदय मिलाने का कोई रास्ता नहीं निकल सकता?

[वीरसिंह के शव के साथ अभयसिंह का प्रवेश,
शव को रखकर सब उठानेवाले चले जाते हैं।]

महाराणा—चारणी, इस शहीद के चरणों के पास बैठकर (शव के पास बैठते हैं) मैं अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ, किन्तु क्या बूँदी के राव तथा हाड़ावंश का प्रत्येक राजपूत आज की इस दुर्घटना को भूल सकेगा ?

[राव हेमू का प्रवेश]

रावहेमू—क्यों नहीं महाराणा ! हम युग-युग से एक हैं और एक रहेंगे। आपको यह जानने की आवश्यकता थी कि राजपूतों में न कोई राजा है, न कोई महाराजा है। सब देश जाति और वंश की मान-रक्षा के लिए प्राण देनेवाले सिपाही हैं। हमारी तलवार अपने ही स्वजनों पर न उठनी चाहिए। बूँदी के हाड़ा सुख और दुःख में सदा से चित्तौड़ के सीसोदियाओं के साथ रहे हैं और रहेंगे। हम सब राजपूत अग्नि के पुत्र हैं, हम सब के हृदय में एक ही ज्वाला जल रही है। हम कैसे एक-दूसरे से पृथक् हो सकते हैं ! वीरसिंह के बलिदान ने हमें जन्म-भूमि का मान करना सिखाया है।

महाराणा—निश्चय ही महाराज ! हम सम्पूर्ण राजपूत जाति की ओर से इस अमर आत्मा के आगे अपना मस्तक झुकायें।

[सब बैठकर वीरसिंह के शव के आगे मस्तक झुकाते हैं।]